विजयनगर
साम्राज्यका
इतिहास
और
जैनधर्म।

संक्षिप्त जैन इतिहास

भाग ३ रा; खंड ५ वाँ

प्रकाशक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
मालिक दिगम्बर जैन पुस्तकालय—सूरत।

"दिगम्बर जैन" के ४२ वें वर्षके ग्राहकोंको सौ० सविताबाई ग्रन्थमालाकी ओरसे भेंट।

—बाबू कामताप्रसाद जैन, अलीगंज।

स्व० सौ० सविताबाई मूलचंद कापड़िया स्मारक ग्रन्थमाला नं० १२

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

संक्षिप्त जैन इतिहास।

(भाग ३–खंड ५)

[विजयनगर साम्राज्यका इतिहास व जैनधर्म]

लेखकः—

श्री० बाबू कामताप्रसादजी जैन, D. L., M.R. A. S.

ऑनरेरी सम्पादक "वीर" व "जैनसिद्धान्त भास्कर"

ऑनरेरी मजिस्ट्रेट और असिस्टन्ट कलेक्टर तथा

अनेक ऐतिहासिक जैन ग्रन्थोंके रचयिता,

अलीगंज (एटा)

प्रकाशकः—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

मालिक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय–सूरत।

"दिगम्बर जैन" पत्रके ४३ वें वर्षके ग्राहकोंको
स्व० सौ० सविताबाई मूलचन्द कापड़िया,
सूरतके स्मरणार्थ भेंट।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४७६ [प्रति ७००

मूल्य—डेढ़ रुपया।

मुद्रक
मूलचन्द किसनदास कापड़िया
जैन विजय प्रेस.
सूरत

स्व० सौ० सविताबाई स्मारक ग्रंथमाला नं. १२

हमारी द्वि० धर्मपत्नी सौ० सविताबाई वीर सं० १४५६ में (२० वर्ष हुए) सिर्फ २२ वर्षकी आयुमें एक पुत्र चि० बाबूभाई (जो १६ वर्षका होकर ८ साल हुए स्वर्गवासी हो गया है) और एक पुत्री चि० दमयंतीको १॥ वर्षकी छोडकर स्वर्गवासिनी हुई था उस समय उनके स्मरणार्थ हमने २६२२) का दान किया था जिसमेंसे २०००) स्थायी शास्त्रदानके लिये निकाले थे जिससे इस ग्रन्थमालाकी स्थापना हुई है।

इस ग्रन्थमालाकी ओरसे आज तक निम्न लिखित ११ ग्रंथ प्रकट होकर वे 'दिगम्बर जैन' या 'जैन महिलादर्श' के ग्राहकोंको भेंट दिये जा चुके हैं—

१-ऐतिहासिक स्त्रियां (ब्र० चन्दाबाईजी कृत) ... ॥।)
२-सं० जैन इतिहास द्वि०खंड (बा०कामताप्रसाद कृत) १॥।)
३-पंचरत्न (बा० कामताप्रसादजी कृत) ... ... ।=)
४-सं० जैन इतिहास (द्वि० भाग द्वि० खंड) ... १=)
५-वीर पाठावलि (बा० कामताप्रसादजी) ... ... ॥=)
६-जैनत्व (रमणीक वि० शाह) ... ... ।=)

और यह १२ वां ग्रन्थ **संक्षिप्त जैन इतिहास भा० ३ खंड पांचवां** पाठकोंके सामने है जो 'दिगम्बर जैन' के ४३ वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट दिया जा रहा है तथा इसकी कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं।

इस ऐतिहासिक ग्रन्थके लेखक श्री बा० कामताप्रसादजी जैन (अलीगंज) ने इस भागमें ७०० वर्षके पहलेका अर्थात् सन् १३००-१४०० के समयका श्री विजयनगर (दक्षिण) साम्राज्य जिसमें कई जैन राजा भी होगये हैं उनका इतिहास २८ अंग्रेजी व हिन्दी ग्रन्थोंसे संकलन किया है जो कार्य अतीव कठिन है और आप ऐसा कार्य ऑनररी तौरसे ही वर्षोंसे कर रहे हैं अत: आपकी यह सेवा अतीव धन्यवादके पात्र व अनुकरणीय है।

जैन समाजमें दान तो बहुत होता है लेकिन उसमें विद्यादान व शास्त्रदानकी विशेष आवश्यकता है अतः दान करनेकी दिशा-बदलनेकी आवश्यक्ता है अतः दानकी रकमका उपयोग विद्यादान तथा इस प्रकारकी ग्रंथमाला निकालकर ही स्थायी शास्त्रदानकी ही व्यवस्था करनी चाहिये। आशा है हमारे पाठक इस निवेदनपर ध्यान देवेंगे।

निवेदक—

सूरत-वीर सं० २४७६
वैशाख सुदी ५
ता० २२-४-५०

मूलचंद किसनदास कापड़िया,
—प्रकाशक।

दो शब्द।

"संक्षिप्त जैन इतिहास" के भाग तीनका यह पाँचवाँ खंड पाठकोंके करकमलोंमें समर्पित करते हुए हमको प्रसन्नता है। प्रस्तुत खंडमें जैन धर्मके प्रारम्भिक इतिहासका पुनः दर्शन कराते हुए हमने विजयनगर साम्राज्य-कालमें उसके अभ्युदयका दिग्दर्शन कराया है। विजयनगर साम्राज्यकी स्थापना शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध और लिंगायत सभी हिन्दुओंने मिलकर की थी, क्योंकि उस समय उत्तरभारत पर अधिकार जमाकर मुसलमान आक्रमणेत्ता दक्षिण भारतकी ओर बढ़ रहे थे और भारतको प्राचीन धर्म मर्यादा एवं संस्कृतिका संरक्षण करना अत्यन्त आवश्यक था। सभी साम्प्रदायोंके लोग इस संकटके समय संगठनकी आवश्यकताको समझ गये थे और उन्होंने साम्प्रदायिक भेदभावको भुला दिया था। कदाचित् कोई कट्टर साम्प्रदायवादी अल्प-संख्यक जैनों आदिको दुःखी करता तो विजयनगरके सम्राट् उसका संरक्षण करते थे। विजयनगर सम्राटोंके निकट सभी धर्म और सम्प्रदाय एक समान थे। विजयनगरके कई सम्राट् स्वतः जैन धर्मानुयाई थे, उनके अनेकों सामन्त और बहुतसे सेनापति, राजमंत्री तथा योद्धा भी जैन थे। इस कालमें जैनोंने देशके संरक्षण, निर्माण और समुत्थानमें पूरा२ भाग लिया था। यह सब बातें प्रस्तुत खंडके पढ़नेसे पाठकोंको स्वयंमेव प्रगट हो जायेंगीं।

पाठकगण! यदि इससे लाभान्वित हुए तो हम अपना प्रयास सफल हुआ समझेंगे। प्रस्तुत खंडकी रचनामें हमें भिन्न२ श्रोतोंसे सहायता मिली है उनका उल्लेख हमने यथास्थान कर दिया है, हम उनके प्रति कृतज्ञता प्रगट करते हैं। विशेषतः हम श्री पं० नेमीचंदजी ज्योतिषाचार्य,

अध्यक्ष जैन सिद्धांतभवन, आरा और प्रोफेसर विलास ए. सांघवे बम्बईके आभारी हैं कि जिन्होंने आवश्यक साहित्यिक पुस्तकें भेजनेकी कृपा की थीं।

हमारे मित्र श्री० मूलचन्द किसनदास कापड़ियाजी इस खंडको भी पूर्ववत् प्रकाशित करके "दिगम्बर जैन" के ग्राहकोंको उपहारमें दे रहे हैं और इस प्रकार इसका सहज प्रचार कर रहे हैं। एतदर्थ हम उनके आभारको भी नहीं भुला सकते।

विनीत—

अलीगंज (एटा)
दिनांक १२-४-५०

कामताप्रसाद जैन।

विषय-सूची ।

संकेताक्षर सूची।

निम्नलिखित संकेताक्षरोंमें फुटनोटों द्वारा प्रमाणस्थलोंका उल्लेख यथा-अवसर किया गया है। पाठक उन्हें समझलें—

१. ASM आसम=आर्केलॉजीकल सर्वे ऑफ मैसूर (एनुअल रिपार्ट १९२९, ३०, ३१ से ३६), बंगलोर।
२. इका०=इपीग्रेफिका कर्णाटिका Epigraphia Carnatica.
३. इंहिका०=इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता।
४. ओझा०=ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)।
५. कोपण०=दी कन्नड इन्स्क्रिपशन्स ऑव कोप्बल, कृष्णम्, चागलू (निजाम)
६. जबिएसो०=जर्नल ऑव दी बिहार ऐन्ड ओड़िसा रिसर्च सोसाइटी, पटना।
७. जमीसि०=जनरल ऑव दी मीथिक सोसाइटी, बंगलोर।
८. J. A. जैएं०=जैन एण्टीक्वेरी (त्रैमासिक पत्र), आरा।
९. जैक०=जैनिज़म एण्ड कर्णाटक कलचर, शर्मा १९४० (धारवाड)
१०. जैकक०=कर्णाटक जैन कवि (प्रेमीजी)
११. जैसिभा०=जैन सिद्धान्त भास्कर।
१२. जैशिसं०=जैन शिलालेख संग्रह (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई) सं० प्रा० हीरालालजी।
१३. दक्षिण०=दक्षिण भारत, जैन व जैन धर्म, व० मु० पाटील वकील, सांगली।
१४. प्रेमा०=प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ (श्री यशपाल जैन टीकमगढ १९४६)
१५. बंग०=बम्बई गैजेटियर (Gazeteer of the Bombay Press), Campbell, (1896).
१६. बंप्राजैस्मा०=बम्बई प्रान्तीय जैन स्मारक (सूरत) सं० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी।

१७. **मर्मप्रा जैस्मा०**=मद्रास-मैसूर प्राचीन जैन स्मारक (ब्र० शीतल-प्रसाद, सूरत).

१८. **मोहन०**=डा० मारशल कृत 'मोहनजोदरो' (लंदन)

१९. Major—**Maijor,** India in the Fifteenth Century, (London.)

२०. **भाप्रारा०**=भारतके प्राचीन राजवंश, श्री विश्वेश्वरनाथ रेउकृत, बम्बई।

२१. **माराप्रास्मा०**=मध्यप्रान्त और राजस्थानके प्राचीन जैनस्मारक ब्र० शीतलप्रसादजी कृत, (सूरत).

२२. **मेजै०**=मेडियेविल जैनीज्म, श्री भास्कर आनन्द सालेतोरन, बम्बई।

२३. **मैआरि०**=आकर्यालॉजिकेल सर्वे रिपोर्ट ऑफ मैसूर (बंगलौर)

२४. **मैकु०**=मैसूर एण्ड कुर्ग फ्राम इंस्क्रिपशन्स, श्री लुई राईसकृत।

२५. **विइ०**=विजयनगर साम्राज्यका इतिहास (श्री वासुदेव उपाध्याय नई दिल्ली, १९४५).

२६. **सांवैल०**=Lists of Inscrips......of South India Arch. Survey of S. India (1884.)

२७. **संजैइ०**=संक्षिप्त जैन इतिहास सूरत-२८, श्रवणबेलगोल, ग इडकुक मैसूर।

२८. **हिन्दु०**=माननीय श्री जवाहरलाल नेहरूकृत "हिन्दुस्तानकी कहानी" नई दिल्ली, १९४७.

नमः सिद्धेभ्यः।

संक्षिप्त जैन इतिहास।

(भाग ३ खण्ड ५)

प्राक्कथन।

जिनेन्द्र व जैन।

भगवान जिनेन्द्रका भक्त जैन है और जिनेन्द्र वह जिन्होंने मानवीय कमजोरियोंको जीत लिया है—जो जितेन्द्रिय हैं—और हैं—लोकके कल्याणकर्त्ता! वह नर रूपमें नारायण होते हैं, जैनी उन्हींके पदचिह्नों पर चलकर अहिंसा संस्कृतिका विकास विश्वमें अज्ञातकालसे करते आये हैं। इसप्रकार जैन उन मानवोंका समुदाय रहा है जो अहिंसा धर्मके उपासक और उसके प्रकाशक रहे हैं। जैन संघमें भारतीय तथा, विश्वके सभी लोग सम्मिलित हुये और जैन शासनको इस संगठित रूपमें उन्होंने उन्नत बनाया। जिनेन्द्र जाति और कुलके

कायल नहीं थे—जाति और कुल लोकव्यवहारकी चीज है। उसे लौकिक जीवनकी सुविधाके लिये वहीं तक मानना ठीक है, जहां तक अहिंसा धर्मकी विराधना न हो। जाति और कुलको लेकर यदि मानव मानवमें उच्च नीचका भेद डाले तो वह बुरा है। जिनेन्द्रने उसे जातिमद और कुल मद कहा है और मद्यकी तरह उसको त्याज्य बताया है। जैनशासनमें जैन कुल ही खास चीज है—उस जैन कुलमें सभी अहिंसोपजीवी मानव सम्मिलित होते आये हैं। भूमिगोचरी आर्य, द्राविड़, असुर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और विद्याधर राक्षस, वानर आदि सभी वंशोंके मानव जिनेन्द्रके भक्त जैनी रहे हैं। वास्तवमें जैन उस सज्जनका द्योतक है जो अहिंसा धर्मका हिमायती और उसपर चलनेवाला है। ऐसा जैन विश्वशान्तिका रक्षक और मानवके आत्मविकासका सूचक रहा है। अतएव जैनसे मतलब उस महा मानवसे है जिसका कुटुम्ब विश्व है और विश्वमें जिसका शासन चला है। जैन पुराणोंमें विश्वव्यापी जैन शासनका इतिहास सुरक्षित है। उनमें मानवीय सभ्य जीवनके विकाशका इतिहास छुपा हुआ है। धार्मिकताके अञ्चलसे बाहर निकाल कर उसे प्रकाशमें लानेकी आवश्यकता है। 'संक्षिप्त जैन इतिहास' के प्रथम भागमें हमने उसकी विहंगम रूपरेखा उपस्थित की थी; किन्तु जैन पुराणोंका तो सूक्ष्म अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टिसे होना आवश्यक है।

प्रारम्भिक इतिहास।

जैन पुराणोंमें मानवका आदि इतिहास, जिसे आजकल प्राक् ऐतिहासिक काल कहते हैं उसका इतिहास ओतप्रोत है। इस काल-

कालके आरम्भमें—पहले तीन कालोंमें मानव बिल्कुल प्रकृतिका होकर रहा, जैन पुराणोंमें चित्रित किया गया है। वह सुखमा-सुखमा और सुखमा काल था। सब ओर आनन्द ही आनन्द था—उस कालमें ईर्ष्या-द्वेष और वैर विरोधके लिये स्थान न था। मानव प्राकृतिक जीवनको बिता रहा था। जैन पुराण बताते हैं कि तब मानव गृहस्थी नहीं बनाता था—आश औलादकी ममता और उनका झंझट उसे नहीं सताता था। युगल नर-नारी कामभोगमें जीवन बिताते थे। उनकी आवश्यकतायें भी परिमित थीं; जिनकी पूर्ति वह कल्पवृक्षोंसे कर लिया करते थे। आधुनिक इतिहासके अनुरूप ही यह मान्यता है—यह बात हम अन्यत्र बता चुके हैं।[1]

धीरे धीरे मानवमें अहं-बोध जागृत हुआ—मेरे तेरेकी ममताने उसे जीवनको संघर्षमय बनाया। झगड़ेमें तीसरेकी जरूरत पड़ती है। तीसरा कहीं बाहरसे नहीं आनेको था—मानवोंमेंसे ही वह ढूंढ़ा गया। वह 'मनु' कहलाया। 'कुलकर' भी उसे कहते थे, क्योंकि उसने मानवोंको 'कुल' में रहकर जीवन बितानेकी शिक्षा दी। कालक्रमसे ऐसे कुलकर मनु एक—दो नहीं पूरे चौदह हुये, उनके नामों और कामोंका वर्णन हम पहले भागमे कर चुके हैं।

जैनधर्मके संस्थापक ऋषभदेव।

सर्व अन्तिम मनु नाभिराय थे। उनके पुत्र ऋषभदेव अथवा वृषभदेव हुये, जिन्होंने मानवको सभ्यजीवन बिताना सिखाया था।

१–पहला भाग और 'जैनसिद्धांत भास्कर' भाग १३, पृ० ९–१६ देखो।

इसी कारण वह ब्रह्मा आदि भी कहलाते थे। इन्द्रने उनके लिये अयोध्याको बहुत ही सुन्दर बसाया था। ऋषभदेवने ही भारतवर्षमें राज्य व्यवस्था स्थापित की थी और इस क्षेत्रको विभिन्न देशोंमें बांट दिया था; जिनपर ऋषभदेवके पुत्र और पौत्र एवं अन्य सम्बन्धी राज शासन करते थे। ऋषभदेवने ही इस कल्पकालके आदिमें धर्मतीर्थकी स्थापना की थी। वह दिगम्बर भेषमें अरण्यवासी साधु हो गये थे। देखादेखी वह तो साधु हो गये, परन्तु त्यागमई जीवनकी साधनामें वह असफल रहे। ऋषभदेव तो छै महीनेका योग माड़कर बैठ गये। भूख–प्यास, सर्दी–गर्मीकी उनको परवाह नहीं थी। पर उनके साथ साधुगण भूख-प्यास और सर्दी गर्मीको बरदाश्त न कर सके। उनमेंसे कुछने कपड़े पहन लिये, कुछने वृक्षवल्कलसे तन ढक लिया और कुछ नंगे ही रहे और वे सब वनफलों और कंदमूलोंसे अपनी उदरपूर्ति करने लगे।

ऋषभदेवका पौत्र और सम्राट् भरतका पुत्र मरीचि उनका अगुआ बना और उसने एक ऐसे दर्शन शास्त्रकी स्थापना की जिसका सादृश्य सांख्यसे था। ऋषभदेवने साधना और योगनिष्ठाकी परिपूर्णताका फल कैवल्य-विभूतिमें पाया। कायोत्सर्ग मुद्रामें ध्यानलीन रहकर उन्होंने आत्मस्वरूप घातक कर्म वर्गणाओंका नाश किया और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जीवन्मुक्त परमात्माका परमपद प्राप्त किया था। वह पहले तीर्थंकर हुये, क्योंकि उन्होंने ही पहले पहले धर्मतीर्थकी स्थापना की थी। ऋषभदेव 'जिनेन्द्र' कहे गये थे, इसलिये उनका मत "जैन" कहलाया था। वह 'दिगम्बर' थे, इसलिये परमहंस 'अचेलक

मत' अथवा 'निर्ग्रन्थ मत' के संस्थापक भी कहे गये और चूंकि उन्होंने स्वयं व्रतोंको धारण किया था और लोकको व्रती जीवन बिताना सिखाया था, इसलिये वह स्वयं 'महाव्रत्य' और उनका मत 'व्रात्य' कहलाया था। जैनधर्मको 'आर्हत् मत' ऋषभदेवके 'अर्हत्' विशेषणके कारण कहा गया था, क्योंकि वह सर्वमान्य थे और कर्म-अरिका उन्होंने नाश किया था। जैनधर्मकी स्थापनाकी यह आदि कहानी है, जैनधर्मके संस्थापक ऋषभदेव थे, जैन इतिहासका श्रीगणेश ऋषभ जीवनसे होना मानना ठीक है।

भागवत्में ऋषभका आठवां अवतार।

जैनेतर साहित्यसे भी ऋषभदेवके अस्तित्व पर प्रकाश पड़ता है और ऐसा कोई कारण नहीं कि जिसकी वजहसे उनको जैन धर्म हीका— धर्मतीर्थका संस्थापक न माना जावे। ब्राह्मण मतके चौवीस अवतारोंमें ऋषभदेव आठवें माने गये हैं और उनके विषयमें कहा गया है कि:—

"राजा नाभिकी पत्नी सुदेवीके गर्भसे भगवान्ने ऋषभदेवके रूपमें जन्म लिया। इस अवतारमें समस्त आसक्तियोंसे रहित रहकर, अपनी इन्द्रियों और मनको अत्यन्त शान्त करके एवं अपने स्वरूपमें स्थित होकर समदर्शीके रूपमें उन्होंने मूढ़ पुरुषके वेषमें योगसाधना की। इस स्थितिको महर्षि लोग परमहंस पद अथवा अवधूत चर्या कहते हैं।"

—(भागवत, २-७-१०)×

इस योगचर्याके द्वारा ऋषभदेवके सब पुरुषार्थ पूर्ण हुए थे और उनको सब सिद्धियां प्राप्त हुई थीं। किन्तु उन्होंने उनको कभी

१—आदिपुराण और सं० जै० इ० प्रथम भाग एवं हमारा 'भगवान् पार्श्वनाथ' (सूरतकी) प्रस्तावना देखो।

× 'कल्याण'—भागवतांक, पृ० २४३.

स्वीकार नहीं किया ।+ वह तो लोकोद्धारमें निरत थे—उनका ध्येय लोकको जड़वादसे निकालकर आत्मवादी बनाना था। 'भागवत-कार' का यह कथन जैन तीर्थंकरके लिये सर्वथा उपयुक्त है। इसीलिये ही 'भागवत' में श्री ऋषभदेवको श्रद्धापूर्वक निम्नप्रकार नमस्कार किया है—

"निरन्तर विषय-भोगोंकी अभिलाषा करनेके कारण अपने वास्तविक श्रेयसे चिरकाल तक बेसुध हुए लोगोंको जिन्होंने करुणवश निर्भय आत्मलोकका उपदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होनेवाले आत्मस्वरूपकी प्राप्तिसे सब प्रकारकी तृष्णाओंसे मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेवको नमस्कार हो।"× —(भागवत ५-७-१९)

निस्सन्देह भ० ऋषभदेव द्वारा ही पहले-पहले योगचर्या और आत्मवादका उपदेश दिया गया था। उनसे पहले हुये सात अवतारोंमेंसे किसीने भी उनके द्वारा निर्दिष्ट निःश्रेयसमार्गका उपदेश नहीं दिया था। पहले अवतारकी महत्ता ब्रह्मचर्य धारण करनेमें बताई गई है। दूसरा वाराह अवतार रसातलमें गई पृथ्वीका उद्धार करनेके लिए प्रसिद्ध है। नारद ऋषि तीसरे अवतार थे, जो अपने तंत्रवादके लिए प्रसिद्ध थे; नर-नारायणका चौथा अवतार संयमी जीवनके लिए प्रसिद्ध हुआ। पांचवें कपिल अवतार द्वारा सांख्यमतके निरूपणका उल्लेख है। जैनशास्त्र भी ऋषभ भगवानसे पहिले ही मरीचि ऋषिद्वारा सांख्य सदृश मतका प्रकाश हुआ बतलाते हैं। भागवतमें भी मरीचि आदि ऋषियोंका उल्लेख है। उनसे जब विश्वका समुचित विस्तार नहीं हुआ तब अन्य अवतार हुए। * इनमें ऋषभावतार भी आजाता है। छठे

+ पूर्व० पृ० ४५५। × 'कल्याण'-भागवतांक, पृ० ४१७।

* कल्याण-भागवतांक पृ० २८०,

दत्तात्रेय अवतारमें प्रह्लादको ब्रह्मज्ञानका उपदेश देनेका उल्लेख है। आठवीं बार यज्ञ रूपमें अवतार लेनेका वर्णन है। उपरांत राजा नाभिकी पत्नी मेरुदेवीके गर्भसे ऋषभदेवके रूपमें अवतार लेनेकी बात लिखी गई है। 'इस रूपमें उन्होंने परम हंसोंका वह मार्ग, जो सभी आश्रमियोंके लिये वन्दनीय है, दिखाया'। × अतः यह स्पष्ट है कि विशुद्ध आत्मधर्मका निरूपण, जिसमें योगनिष्ठ दिगंबर भेषकी प्रधानता है। सबसे पहिले ऋषभदेवने ही लोकको बताया था। अतः हिन्दू पुराणोंके मतानुसार भी ऋषभदेव ही जैनधर्मके संस्थापक सिद्ध होते हैं, + क्योंकि 'भागवत' के अतिरिक्त 'ब्रह्माण्ड' आदि हिन्दू पुराण भी इसी मतके पोषक हैं।[1]

ऋग्वेदमें ऋषभ।

यह बात ही नहीं कि हिन्दू पुराणोंमें ही ऋषभावतारका वर्णन हो, बल्कि 'ऋग्वेदमें' भी ऋषभका उल्लेख हुआ मिलता है:—

"ऋषभं मासमानानां सपत्नानां विषा सहिं।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्"

—ऋग्वेद १०।१।१६६

निस्सन्देह वेदके इस मंत्रमें ऋषभदेवको जैन तीर्थङ्कर नहीं कहा है और वेदोंके टीकाकार सायण आदि भी उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश नहीं डालते, किन्तु वे 'ऋषभ' शब्दसे एक व्यक्तिका नाम

× पूर्व० पृ०१८९, + वेद पुराणादि०, पृ० २-४।

१—मार्कण्डेय अ० ५० पृ० १५०, ब्रह्माण्डपुराण अ० १४ श्लो० ५९-६१, अग्निपुराण अ० १० इत्यादि—विशेषके लिए।

ही अभिप्रेत मानते हैं।[1] और कहते हैं कि वैदिक अनुश्रुतिकी व्याख्या पुराणों और काव्योंके आधारसे करना उचित है।[2] पुराणोंमें ऋषभदेवका वर्णन ठीक वैसा ही है जैसा जैन शास्त्रोंमें मिलता है। अतएव उपर्युक्त वेदमंत्रके ऋषभदेवको जैन तीर्थंङ्कर मानना उपयुक्त ही है। श्री विरुपाक्ष वडियर जैसे वैदिक विद्वान और श्री स्टीवेन्सन सदृश पाश्चात्य विद्वान् भी वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त ऋषभ नामको जैन तीर्थङ्करका ही बोधक मानते हैं।[3] अतः यह मान्यता ठीक है कि जैन धर्मके संस्थापक ऋषभदेव हीका उल्लेख वैदिक साहित्यमें हुआ है। उनके अतिरिक्त किसी दूसरे ऋषभदेवका पता किसी भी अन्य श्रोतसे नहीं चलता। प्रत्युत बौद्ध साहित्यसे भी जैन धर्मके आदि संस्थापक ऋषभदेव ही प्रमाणित होते हैं।[4]

१–सावेनुक्रमणिका (लंदन) पृ० १६४। २–अर्ली इंडिया भूमिका।

३–जैन पथप्रदर्शक, भाग ३ अंक ३ पृष्ठ १०६.

Prof. Stevenson remarked: "It is seldom that Jainas and Brahmanas agree, that I do not see, how we can refuse them credit in this instance, where they do so."

—Kalpasutra, Introduction p. XVI.

४–न्यायबिन्दु अ० ३ एवं मञ्जुश्री मूलकल्पमें भी जैनधर्मके आदि महान् पुरुषरूपमें श्रीऋषभदेवका उल्लेख इस प्रकार हुआ है:—

"कपिल मुनिर्नाम ऋषिवरो, निर्ग्रन्थ–तीर्थंकर ऋषभः निर्ग्रन्थरूपि:।"

—आर्यमञ्जुश्री–मूलकल्प (त्रिवेन्द्रम) पृष्ठ ४५.

इस उल्लेखके सम्बन्धमें जर्मन प्रो० ग्लॉसेनॉप्पने विवेचन करते हुये लिखा था कि बौद्धोंने लोकका संकेतमय चित्र उपस्थित करते हुये एक मंडलमें एकमतके महान् संस्थापकको भुलाया नहीं था।

("......Buddhists could not omit the great prophet of a religion which......had acquired glory all over India."
—Prof. Helmuth von Glassenapp). J A., III, p. 47.

कुछ लोगोंका ऐसा खयाल है कि वैदिक अवतारोंमेंसे ऋषभदेवको लेकर जैनोंने, अपने मतको प्राचीन रूप देनेके लिये चौवीस तीर्थंकरोंकी मान्यता गढ़ ली है—जैन धर्म भ० पार्श्वनाथसे पुराना नहीं है, किन्तु यह कोरा खयाल ही है—इसमें तथ्य कुछ नहीं है। हिन्दू अवतारोंमें लोकके उन प्रमुख महापुरुषोंको ले लिया गया है जिनका सम्बन्ध किसी न किसी रूपमें भारतवर्षसे था-उन महापुरुषोंकी लोकोपकार वृत्ति ही उनकी गिनती अवतारोंमें करनेके लिये आधारशिला मानी गई। यही कारण है कि अवतारोंमें अन्तिम दो बुद्ध और कल्कि माने गये हैं।[1]

ऋषभ जैनोंके मूल पुरुष हैं।

जिस प्रकार वैदिक धर्मानुयायी न होते हुए भी बुद्धको अवतारोंमें गिना गया, उसी तरह ऋषभदेव भी वैदिक धर्मानुयायी नहीं थे और फिर भी वह अवतार माने गये, क्योंकि उन्होंने महती लोकोपकार किया था, लोकको सच्चा आत्मबोध कराया था। हिंदू पुराणोंमें स्पष्टतः उनको एक स्वतंत्र परम हंसवृत्तिप्रधान धर्मका प्रतिष्ठापक कहा है। जैन भी यही कहते हैं। अतएव यह माननेके लिये कोई कारण नहीं है कि जैनियोंने ऋषभदेवका चारित्र ब्राह्मणोंसे लिया अथवा ऋषभदेव जैन महापुरुष नहीं थे। जिस प्रकार बौद्ध धर्मके संस्थापक भ० बुद्धको अवतार माना गया, उसी तरह जैनधर्मके संस्थापक ऋषभदेवको भी हिन्दुओंने अवतार माना है। इस अवस्थामें जैनियोंकी मान्यता कि चौवीस तीर्थंकर हुये, प्रमाणिक सिद्ध होती है।

१—भागवत स्कंध २ अ० ८ श्लोक ३७-३८।

पार्श्वनाथजी संस्थापक नहीं हैं।

इसके विपरीत इस मान्यतामें तो जरा भी तथ्य नहीं है कि जैनधर्म भ० पार्श्वनाथसे ही चला। प्रो० हर्मन जैकोबीको हठात यह स्वीकार करना पड़ा था कि भ० पार्श्वनाथको जैन धर्मका संस्थापक माननेके लिये कोई आधार या प्रमाण नहीं है—जैनी ऋषभदेवको पहिला तीर्थंकर मानते हैं और उनकी इस मान्यतामें कुछ तथ्य है।[1] प्रो० दासगुप्ता भी ऋषभदेवको ही जैनधर्मका संस्थापक प्रगट करते हैं और स्पष्ट लिखते हैं कि महावीर जैनधर्मके संस्थापक नहीं थे।[2] किन्तु आजकल राजनैतिक प्रक्रियाके वश हो बहेर नेता भ० महावीरको ही जैनधर्मका संस्थापक बतानेकी गलती करते हैं।[3] और सर्वप्राचीन जैनशासनको वैदिक हिन्दुओंका प्रतिगामी दल या शाखा घोषित करके सत्यका खून करते हैं; किन्तु निष्पक्ष न्यायाधीश[1] अथवा

१—"But there is nothing to prove that Parsva was the founder of Jainism. Jaina tradition is unanimous in making Rishabha, the first Tirthankara (as its founder)......There may be something historical in the tradition which make him the first Tirthankara.' —Prof. Dr Hermaun Jacobi (IA IX 163)

२—ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलॉसफी—अ० ६ पृ० १६९......।

३—माननीय पं० जवाहरलाल नेहरूने यद्यपि एक स्थलपर जैनधर्मको वैदिक धर्मसे भिन्न लिखा परन्तु दूसरे स्थल पर जैनोंको हिन्दू और भ० महावीरको जैनधर्मका संस्थापक लिखनेकी गलती की है।

—(हिन्दु० पृ० ७९ व १३६–१३८)

1. 'Modern research has shown that Jains are not Hindu dissenters.'—Justice Krishnamurti Shastri, Actg. Chief Justice of Madras High Court. —(I. L. R. 50 Mad. 328.)

इतिहासज्ञ जैनोंको भारतकी प्राचीनतम लोक सत्ता और धर्मके अनुयायी ही प्रगट करते हैं ।

सिंधुके पुरातत्वमें जैनधर्म ।

भारतका पुरातत्व भी इसी मतका पोषक है । सिंधु उपत्यकामें मोहनजोदड़ो और हड़प्पासे पांच हजार वर्ष पहलेकी मुद्रायें और मूर्तियां मिली हैं । उनका नग्नत्व, ध्यानमुद्रा, कायोत्सर्ग स्थिति और उन पर अङ्कित चिह्न ठीक वही हैं जोकि जैन मूर्तियोंमें मिलते हैं ।[२] श्री रामप्रसादजी चंदाने लिखा है कि वैदिक क्रियाकांडी मतको छोड़कर शेष सब ही भारतीय ऐतिहासिक मतोंमें योग एक मान्य सिद्धान्त रहा है । उसमें भी जैन तीर्थङ्करोंके निकट ध्यान योगका महत्व विशेष था । उनका कायोत्सर्ग आसन तो निरी-निरा जैन साधना ही की चीज है । इस आसनमें योगी बैठता नहीं, खड़ा ही रहता है । आदिपुराण (१८ वां अ०) में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ या वृषभदेवके प्रसंगमें कायोत्सर्ग आसनका वर्णन किया गया है सिंधु

'Jainism prevailed in this country long before Brahmansim came into existence or held the field, and it is wrong to think that the Jains were originally Hindus and were subsequently converted into Jainism.'—Hon'ble Justice Rangneckar, of the Bombay High Court. (A. L. R. 1939, Bombay 377.)

2. "The Jains have remained as an organised community all through the history of India from before the rise of Buddhism down to day."—Porf. T. W. Rhys Davids.

२–मोहन०, भा० १, पृ० ५२–७८ व मॉडर्नरिव्यू, अगस्त १९३२: पृ० १५६–१५९.

उपत्यका (Indus Valley) से उपलब्ध हुई मुद्राओंपर केवल बैठी हुई मूर्तियां ही ध्यानमग्न अङ्कित हैं, इतना ही नहीं, बल्कि उनपर कायोत्सर्ग आसनमें खड़ी हुई ध्यानमग्न आकृतियां भी अंकित हैं। अतः यह स्पष्ट है कि उस प्राचीनकालमें सिंधु उपत्यकामें योगचर्या प्रचलित थी। कर्जन म्युजियम मथुरामें कायोत्सर्ग मुद्रामें स्थित तीर्थङ्कर ऋषभकी एक मूर्ति है। उसका सादृश्य सिंधुकी मुद्राओंपर अंकित कायोत्सर्ग स्थितिकी आकृतियोंसे है। ऋषभका भाव बैलसे है और तीर्थंकर ऋषभका चिन्ह बैल ही है। अतः नं० ३ से ५ तककी सिंधुमुद्राओं पर जो आकृतियां अंकित हैं वे ऋषभकी ही पूर्वरूप हैं।[1]

सिन्धु-मुद्राओं (Indus Seals) पर अङ्कित नग्न कायोत्सर्ग आकृतियोंसे ही जैन मूर्तियोंका साम्य हो, केवल यह बात ही नहीं है, बल्कि मोहन-जो-दड़ो और हरप्पासे ऐसी मूर्तियां भी मिली हैं, जिसको कोई भी विद्वान् निःसन्देह जैन मूर्तियां कह सकता है; परंतु विद्वज्जन उन्हें जैन कहनेसे इसलिये हिचकते हैं कि वे ई०पू० आठवीं शताब्दिसे पहले जैनधर्मका अस्तित्व ही नहीं मानते। किंतु उनकी यह मान्यता निराधार है। भारतीय साहित्य तो ऋषभदेवको ही जैनधर्मका संस्थापक मानता है, जो राम और लक्ष्मणसे भी बहुत पहले हुए थे। मोहन-जो-दड़ोके ऐश्वर्यकालमें बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि अथवा नेमिनाथका तीर्थकाल चल रहा था। अतः वहांके लोगोंमें जैनधर्मकी मान्यता होना स्वाभाविक है। काठियावाड़से उपलब्ध एक ताम्रपत्रमें स्व० प्रो० प्राणनाथने पढ़ा कि सुमेर नृपनेबुशदनेजर प्रथम

१—मॉडर्न रिव्यू, आगस्त १९३२, पृष्ठ १५६–१५९।

गिरिनार पर्वतपर जिनेन्द्र नेमिकी वंदना करने आये थे[1]। वह उस सु–जातिके शासक थे जो मूलमें सु-राष्ट्र (सौ-राष्ट्र=काठियावाड़) के निवासी थे।

सुमेर लोग और जैनधर्म।

उक्त ताम्रपत्रमें सु-नृपको 'रेवानगरके राज्यका स्वामी' ठीक वैसे ही लिखा है जैसे कि उपरान्त कालमें विभिन्न राजवंशोंने अपने मूल पुरुषके निवासस्थानकी अपेक्षा अपनेको उस नगरका शासक लिखा है जैसे–राष्ट्रकूट राजा अपनेको 'लट्टलूराधीश्वर'–शिलाहार वंशके राजा स्वयंको 'नगर पुरवराधीश्वर' लिखते थे। यह रेवानगर नर्मदा नदीके तटपर जैनोंका एक प्राचीन केन्द्र था और आज भी तीर्थ रूपमें जैनी उसकी वन्दना करते हैं।[2] बेबीलोनके उपर्युक्त नबुशदनेजर नरेश अपनेको 'रेवानगरके राज्यका स्वामी' घोषित करके यह स्पष्ट करते हैं कि वे मूलतः भारतके ही निवासी थे। विद्वानोंका मत है कि सु-जातिका मूलस्थान सुराष्ट्र है और इस सु-जातिके लोग बड़े व्यापारी थे। उनके व्यापारके जहाज सुराष्ट्रसे ईरान, मेसोपोटी-मिया, अरब, मिश्र और मेजेट्रेनियन समुद्रतक और दूसरी ओर जावा, सुमात्रा, कंबोडिया और चीन तक जाया आया करते थे। इन सुजातिके लोगोंने विदेशोंमें उपनिवेश बनाये थे और इनका धर्म जैन धर्म था।[3] सुमेर लोगोंका मुख्य देवता 'सिन' (चंद्रदेव) मूलमें जूइन'

१–"जैन" (गुजराती–भावनगर) ता० २ जनवरी १९३७, पृ० २।

२–निर्वाणकाण्ड गाथा देखो।

३–जे. एफ. हेवीन्ट कृत प्राग् ऐतिहासिक समयकी राजकर्ती जातियाँ और विशाल भारत, भाग १८ पृष्ठ ६२६–६३२।

कहलाता था, जिसका अर्थ होता है 'सर्वज्ञ ईश' (Knowing Lord) उसे 'नन्नार' (Light=प्रकाश) भी कहते थे[1]। जैनधर्ममें आप्तदेवको सर्वज्ञ और सर्वदर्शी माना गया है और वह ज्ञानपुंजके प्रकाश कहे गये हैं। चन्द्रदेव स्वयं एक तीर्थङ्करका नाम था। मूलमें 'सिन' शब्दके अर्थ 'सर्वज्ञ-ईश' को भूलकर सु-लोग चन्द्रमाको पूजने लगे। वैसे जैनी भी सूर्य और चंद्रके विमानोंमें अकृत्रिम जिन मंदिर और जिन प्रतिमा मानकर उनकी नितप्रति वन्दना करते हैं। भ० पार्श्वनाथ अपने पूर्वभवमें जब आनन्दकुमार राजा थे, तब उन्होंने महामह यज्ञ अथवा जिनपूजा विधान किया था और सूर्य विमानमें स्थित जिनेन्द्रकी वह विशेष पूजा करने लगे थे[2]। मालूम होता है तभीसे सु-जातिके एवं अन्य जैनियोंमें सूर्य एवं चंद्रकी पूजा करनेका प्रचार हुआ था। सुमेर और सिन्धुकी मुद्राओंपर इन देवताओंके नाम अर्थात् सिन, नन्नार, श्री आदि पढ़े गये हैं।[3] अतः इस विवेचनसे भी जैनधर्मका मोहन जोदड़ोके ऐश्वर्यकालमें प्रचलित होना सिद्ध है। विद्वानोंको जैन पुराणोंकी मान्यताओंमें ऐतिहासिक तथ्य सूझने लगा है और वे अरिष्टनेमिको भी ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं।[4] सिन्धु और सौवीर अथवा सौराष्ट्रके इतिहास पर जैन पुराणों और कथाग्रन्थोंसे विशेष प्रकाश पड़नेकी संभावना है।[5]

१-इंहिक्वा० भा० ७ परिशिष्ट पृ० २७-३०, २-हमारा 'भगवान पार्श्वनाथ' (सूरत) पृष्ठ २९-३७, ३-इंहिक्वा० भा० ७ व भा० ८ के परिशिष्ट देखो।

4. Lord Aristanemi, Appendix, p.p. 87-90.

5. '...the Pauranic literature of the Jains...contains some

जैन देवता मोहनजोदड़ोमें ।

प्रो० प्राणनाथने सिन्धु उपत्यकी मुद्रा (Indus Seal) नं० ४४९ पर 'जिनेश्वर' (जिनि ६ ६ श्वः) शब्द पढ़ा था।[1] वह सिन्धु-लिपिको ब्राह्मीलिपिका पूर्वरूप ही मानते और यही सिद्ध करते हैं। मुद्राओं पर जो नाम और चिह्न अङ्कित हैं उनसे भी मोहनजोदड़ोके लोगोंके धर्मका सम्बन्ध हिन्दू और जैन धर्मोंसे सिद्ध होता है—श्री, ह्री, क्लीं आदि तांत्रिक देवताओंका उल्लेख इन मुद्राओंमें हुआ है।[2] जैनमतमें श्री, ह्रीं, धृति, कीर्ति बुद्धि और लक्ष्मी मुख्य छः देवियां मानीं गई हैं जिनका आवास मध्य लोक है। मुद्राओंपर जो स्वस्तिका, बैल, हाथी, गैंडा, सिंह, भैंसा, मगरमच्छ, बकरी और वृक्षचिह्न अंकित हैं,[3] वे ही चिन्ह जैन तीर्थङ्करोंकी मूर्तियोंपर भी मिलते हैं।[4]

very valuable materials of historical importance, owing to the lives of their Tirthankaras e.g. Risabha or Adinath and Arista-Nemi, the 22nd Tirthankara, being intimately connected with some ancient Indian historical personages"

—P. C. Divanji, Kane p. 175 to footnote 16

१–इंहिक्ता०, भाग ८ परिशिष्ट पृ० १८.

2. "The names and symbols on Plates annexed would appear to disclose a connection between the old religious cults of the Hindus and Jainas with those of the India's people.........It is interesting to note that the Puranas and the Jaina religious books both assign high places to these gods (of Indus people)"

—Prof Pran Nath; I.H Q. VIII, 27-29.

३–इंहिक्वा०, भा० ८ पृष्ठ १३२।

४ प्रतिष्ठासारोद्धार, १७८–७९।

नं० १ (Ph. CXVI) और नं० ७ (Ph. CXVIII) की मुद्राओंपर एक पंक्तिमें छै नंगे योगी खड़े दर्शाये गये हैं। उनके आगे एक भक्त घुटने टेके हुये बैठा है, जिसके हाथमें छुरी है। उसके सन्मुख एक बकरी खड़ी है और बकरीके सामने एक वृक्ष है जिसके मध्यमें मनुष्याकृति बनी हुई है।[१] यह दृश्य पशुबलिका बोधक बताया जाता है। भक्त वृक्षमें स्थित देवताको बकरीकी बलि चढ़ाकर प्रसन्न करना चाहता है; यह तो ठीक है। किन्तु छै नंगे योगी क्यों अंकित किये गये हैं? वृक्ष अथवा यक्षपूजासे उनका कोई सम्बन्ध किसी अन्य स्रोतसे प्रमाणित नहीं होता। लगभग बीस वर्षकी बात है। 'वीर' के विशेषांकके लिये एक रंगीन चित्र हमने बनवाया था। उस चित्रमें भी उपर्युक्त मुद्राके समान ही दृश्य अनायास अंकित कराया था—उस समय इस मुद्राका हमें पता भी नहीं था। चित्र और इस मुद्राके दृश्यमें अन्तर केवल इतना है कि चित्रमें बकरीके स्थानपर घोड़ा और वृक्षके स्थानपर यज्ञकुंड एवं वधक अङ्कित हैं। चित्रमें भ० महावीर योगीके रूपमें पशु यज्ञ न करनेके भावसे चित्रित किये गये हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त मुद्राओंमें छै योगी बकरीकी बलि न चढ़ानेका उपदेश देते हुए ही प्रतीत होते हैं। जैन कथा-ग्रंथोंमें भ० नेमिनाथके समयमें हुये छै चारण दिगम्बर मुनियोंके अस्तित्वका पता चलता है।[२] अतएव सिंधुकी इन मुद्राओंसे भी अहिंसाप्रधान दिगम्बर योगियोंका मत उस समय प्रचलित प्रमाणित

१–इंडिका०, भा० ८ पृ० १३३।

२–अंतगत दसाओ (अहमदाबाद) पृ० १०।

होता है। इसी प्रकार हड़प्पासे प्राप्त मानवकी नंगी मूर्ति, (प्लेट नं० १०) जो कलाकी दृष्टिसे अद्वितीय है, एक दिगम्बर योगीकी ही मूर्ति प्रमाणित होती है, क्योंकि वह नग्न है और उसके हाथ कायोत्सर्ग मुद्रामें बने हुये हैं। खेद है कि मूर्तिका शिरोभाग और घुटनोंसे नीचेका अधोभाग अनुपलब्ध है। पर तो भी धड़का भाग मूर्तिको कायोत्सर्ग मुद्रामें स्थित नग्न प्रमाणित करता है। अतः इस मूर्तिको एक दिगम्बर जैन श्रमणकी प्रतिमा मानना बेजा नहीं है। इसी तरह मोहन–जो–दड़ोसे उपलब्ध एक पद्मासन मूर्ति (प्लेट नं० १३ चित्र नं० १५ व १६) जिसके सिरपर सर्प फण बना हुआ है, बिल्कुल भगवान सुपार्श्व अथवा पार्श्वनाथकी पद्मासन मूर्तिके अनुरूप है। उसे हम निस्संकोच जैन मूर्ति कह सकते हैं। वैसी मूर्तियां जैन मंदिरोंमें पूजी जाती हैं। अतएव पूर्व विवेचनको दृष्टिमें रखते हुये-यह मानना ठीक है कि मोहनजोदड़ोके लोगोंमें जैनधर्म भी प्रचलित था। उन लोगोंका सम्पर्क द्राविड़ जातिके लोगोंसे था और द्राविड़ भी जैन थे, यह बात विद्वज्जन प्रगट कर चुके हैं।[१] अतएव इस साक्षीसे भी भ० ऋषभदेवको जैनधर्मका संस्थापक मानना ठीक है।

भारतीय पुरातत्वमें तीर्थंकर।

पुरातत्वमें मथुराका देवशैलीका बौद्धस्तूप और उस परकी मूर्तियां पटना जंकशनके पाससे प्राप्त मौर्यकालीन दि० जैन प्रतिमायें[3] खंड-

1. Short Studies in the Science of Comparative Religion p. p. 243-244.

२–प्रेमी० पृष्ठ २७९–२८०.

३–जैसिभा०, भा० १३ पृष्ठ १६.

गिरि उदयगिरि (ओड़ीसा) तेरापुर (धाराशिवें) और ढंक (काठीयावाड़) की गुफाओंकी जिन मूर्तियां ईस्वी पूर्व आठवीं शताब्दीसे ईस्वीपूर्व पहली शताब्दी तक चौबीस तीर्थंकरोंकी मान्यताको प्रचलित प्रमाणित करते हैं। हाथीगुफाके शिलालेखमें स्पष्ट लिखा है[4] कि नन्द सम्राट् कलिंग जिनकी जिस मूर्तिको मगध ले गये उसे सम्राट् खारवेल वापस कलिंग ले आये थे। इन उल्लेखोंसे जैन तीर्थङ्करोंकी-मान्यता एक ऐतिहासिक वार्ता प्रमाणित होती है। अतः ऋषभदेवको ही जैनोंका आदि पुरुष मानना ठीक है।

उपरान्तकालमें।

ऋषभदेवसे उद्भूत होकर जैनधर्म और जैनी लोकव्यवहारमें अग्रसर हुए थे। ऋषभदेवके पुत्र भरत भारतके पहले सम्राट् थे और उनके द्वारा अहिंसा-संस्कृतिका विकास विश्वमें हुआ था। अहिंसासंस्कृतिका वह अरुणोदय काल था। उस समयसे ही श्रमण और ब्राह्मण—दो भिन्न परम्पराओंका प्रसार होगया था। ऋषभसे पुष्पदन्त तक तीर्थङ्करों द्वारा अहिंसा धर्मका पूर्ण प्रचार होता रहा था। किन्तु दसवें तीर्थङ्कर शीतलनाथके समयसे अहिंसा-संस्कृतिके सूर्यको पाखंडरूपी राहुने ग्रस्त कर लिया था। उस समय तक जो ब्राह्मण वर्ग ब्रह्मचर्यका पालन करके आत्मानुभूतिमें मग्न था, वह शिथिलाचारका शिकार हुआ। वैदिक ऋषि मुण्डशालायनने परिग्रह पापको सिर पर उठाया—हाथी, घोड़ा,

1. Notes on the Remains on Dhauli & Caves of Udaygiri p. 2.
२—करकंडुचरिय, प्रस्तावना, पृष्ठ ४१–४८.
३—दी आर्केलॉजी ऑव गुजरात, पृष्ठ १६६–१६८.
४—जबिओसो० भा० ३ पृष्ठ ४६५–४६७.

कन्या, सुवर्ण आदिका दान देना उसने स्वीकार किया। इस घटनाके साथ ही ब्राह्मण वर्गमें एक अन्य विचार धारा वह निकली, जिसमें 'आत्मा' नहीं, परिग्रहको—शरीर पुष्टि और इन्द्रिय लिप्साको प्रमुख स्थान मिला जिसमें हिंसा-राक्षसी अहिंसा देवीके आसनपर बैठी। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथजीके समय तक वह इतनी बलवान होगई कि खुल्लमखुल्ला हिंसक बलिदानों और यज्ञोंका विधान किया गया। वैदिक ऋचाओंका शब्दार्थ ग्रहण करके हिंसा और वासनाको पोषण मिला, राजा वसुने इस हिंसा प्रवृत्तिको आगे बढ़ाया! अहिंसा प्रधान श्रमण विचारधारा क्षीण होगई। "महाभारत" और "सुत्तनिपात" से भी यह प्रगट है कि पहले ब्राह्मण—वर्ग अहिंसक यज्ञोंको करता—शालि चावलोंको होमता था, परन्तु उपरान्त वह पशु यज्ञोंको करनेमें संलग्न हुआ था। इस हिंसक प्रवृत्तिसे देशमें तामसिक पाशविकताका प्राबल्य होनेसे लोक मूढ़ता फैली। देवताओंके कोप और भूतप्रेतके भयसे मानव घबड़ा गया। पशुबलि देकर उसने उनको प्रसन्न करनेका स्वांग रचा। भूतों और यक्षोंके आवास—वृक्षोंकी भी पूजा होने लगी। इंद्र, वरुण, अग्नि आदि देवता भी पूजे जाने लगे। उनका अलंकारमय आध्यात्मिक रूप जनताकी दृष्टिसे ओझल हो गया। हिंसा खिलखिला कर हंसी, परन्तु श्रमण इससे घबड़ाये नहीं। तीर्थंकर नमि और नेमिने पुनः अहिंसाका झण्डा ऊंचा उठाया। उनके तीर्थकालमें कामिनीकंचन और मद्य-मांसकी वासनामें लोक बहा जाता था। नेमिने बाड़ेमें घिरे हुए पशुओंके रूपमें युगवर्ती घोर हिंसाको देखा था। नारायण कृष्णने आत्माकी अमरताका बोध कराकर लोगोंकी सैनिक वृत्तिको आगे बढ़ाया

था। नेमिने इस शिक्षाकी नृशंसता महाभारतमें घटित महान् मानव-हत्याकाण्डमें अपनी आंखोंसे देखी थी। महाभारत युद्धमें उन्होंने सक्रिय भाग लिया था। मानवके नैतिक पतनके उस अन्यतम भयानक दृश्यको देखकर उनका विवेक जागृत हुआ होगा—तभी तो नेमि पशुओंकी बिलबिलाहट सुनकर श्रमण साधनाके साधक बने थे। लोकका मानव तो पार्थिव व्यक्तित्वका पुजारी बना हुआ था। द्रोण जैसा आचार्य अपनी मान-रक्षाके लिये पंचालके दो भाग करानेमें कारण बना था। धर्ममूर्ति युधिष्ठिर सती द्रौपदीको जुएमें दाव पर लगा बैठे थे। यादव सुरापानसे अपने कुलका ही नाश कर बैठे थे। नेमिने कामिनी-कंचन और मद्य-मांसके विरुद्ध बगावत की। उन्होंने अपना विवाह नहीं किया—बारात चढ़ीकी चढ़ी रह गई। नेमि श्रमण साधु हुये तो उनकी भावी पत्नी राजुल भी पीछे न रही—वह साध्वी हो गई। लोकमें तहलका मच गया। उसने रुककर कुछ सोचा और तीर्थंकर नेमिके अहिंसामई उपदेशसे वह प्रभावित हुआ। मानव-समाजमें प्रतिक्रिया जन्मी। भारतमें उपनिषदों द्वारा आत्मविद्याका प्रचार किया गया। भारतके बाहर भी अहिंसा बलवती हुई। किन्तु हिंसा यूंही मिटनेवाली न थी। पशुयज्ञोंके साथ शुष्क ज्ञान और हठयोगको अपनाया गया। अनेक मत प्रवर्तक आगे आये, जिन्होंने मनमाने ढंगसे हिंसा-अहिंसामें समन्वय करानेके प्रयत्न किये। भगवान् पार्श्वनाथने अहिंसा-संस्कृति और दिगम्बर योगमुद्राको आगे बढ़ाया। अहिंसा धर्मका प्रभाव लोकव्यापी हुआ। ईरानमें जहां

१—हमारी 'भगवान् पार्श्वनाथ' नामक पुस्तक (सूरत) देखो।

पहले करीब ६००० ई० पूर्व कालमें जरस्तु प्रथम (Zoroaster) I द्वारा हिंसक बलिदानका विधान हुआ बताया जाता है, वहां जरस्तु द्वितीय (Zoroaster II) ने ई० पूर्व सन् ७०० में अपने उपदेशमें अहिंसक बलिदानोंका ही निरूपण किया था। ईस्वी पूर्व दूसरी तीसरी शताब्दीमें रचे गए 'अरिस्टीयसके पत्र' (The Letter of Aristeas) में स्पष्ट लिखा है कि यहूदी आदि प्राचीन भारतेतर धर्मोंके ग्रन्थ अलंकृत भाषामें लिखे गये थे और उनमें अहिंसक बलिदानोंका ही विधान था। यूनानमें पिथागोर (Pythagoras) एवं अन्य तत्ववेताओंने अहिंसाका प्रचार किया था। सारांशतः जैन तीर्थंकरों और श्रमणों द्वारा अहिंसा संस्कृतिका विकाश विश्वव्यापी हुआ था। इन तीर्थंकरोंका वर्णन हम प्रस्तुत इतिहासके प्रथम भागमें कर चुके हैं।

भगवान महावीर।

उपरान्त अन्तिम तीर्थंकर भ० महावीरने एक सर्वतोमुखी क्रांति भारतमें उपस्थित की थी, जिससे समाज व्यवस्थामें उदार साम्यवृत्तिका समावेश हुआ; लोक जीवन परोपकारमय अहिंसा वृत्तिका पोषक बना। पशुओंको भी त्राण मिला और गोधनकी वृद्धि हुई। मानव जीवन नैतिकताके ऊंचे प्रस्तर पर पहुंचा। कोई भी मानव दास बनाकर नहीं रक्खा गया; पुरुष ही नहीं, स्त्रियां भी घर छोड़कर लोकोद्धारके पुनीत कार्यमें लगीं थीं; मानवोंमें राष्ट्रीय एकीकरणकी भावना जगी थी।

१-इं रि ई०, भा० १२ पृ० १४३-१४४ और जैऐं०, भा० ११ पृ० १४-१९।

बहुतेरे राज्य प्रजातंत्ररूपमें शासित हुये और सम्राट् श्रेणिक बिम्बसारने ईरानियोंको भारत सीमामें पैर नहीं घरने दिया। उन्होंने अपने मित्र पार्वतीय नरेशकी सहायता करनेके लिये जैन युवक वीरवर जम्बूकुमारके सेनापतित्वमें सेना भेजी थी। श्रेणिकने मगध राज्यका महत्व बढ़ाया था। वह भ० महावीरके अनन्य भक्त—एक कट्टर जैनी थे।

अन्य राज्य ।

नंदवंशके राजा भी जैनी थे और उन्होंने भी अहिंसा संस्कृतिको आगे बढ़ानेका उद्योग किया था। आखिर मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त द्वारा भारतका राष्ट्रीय एकीकरण हुआ था। चन्द्रगुप्तने यूनानियोंसे मोर्चा लेकर उनको भारतसे बाहर निकाल दिया था और अफगानिस्तानके प्राचीन भारतीय प्रदेशको भारतमें मिला लिया था। श्रुतकेवली भद्रबाहु सम्राट् चंद्रगुप्तके धर्मगुरु थे और उनके निकट ही उन्होंने जैनमुनि दीक्षा धारण की थी। सम्राट् अशोक और सम्प्रतिने धर्मलेखोंको जगह जगह पर खुदवाकर अहिंसाधर्मका प्रचार किया था और विदेशोंमें धर्मप्रचारक भी भेजे थे।

जब इंडोग्रीक शासक भारतमें घुस आये और उनका दमत्रय (Dameterius) नामक राजा मथुरासे भी आगे मगधकी ओर बढ़ गया था, तब कलिङ्ग चक्रवर्ती जैन सम्राट् ऐल खारवेल आगे आये और ज्यों ही उन्होंने मगध सम्राट् बृहस्पति मित्रको परास्त किया, त्यों ही दमत्रयके छक्के छूट गये और वह मथुरा छोड़कर भाग गया। एकबार पुनः भारतको स्वाधीनता प्राप्त हुई।

किन्तु साम्प्रदायिक विषमताके कारण भारतीय राष्ट्रीयता अधिक

न प्रकट आई। गर्दभिल्ल राजा शासन-मदमें न्यायको भूल गये । जैन संघपर अत्याचार हुआ । कालकाचार्य उसके प्रतिशोधकी भावनासे शकस्थान पहुंचे और शकशाही राजाओंको सिंधु सौराष्ट्रमें लिवा लाये और गर्दभिल्ल राजाके अत्याचारका अन्त किया ।

उपरान्त सम्राट् विक्रमादित्यका प्रभुत्व सारे भारत पर एक-समान व्याप्त हुआ। आचार्य सिद्धसेनने सम्राट् विक्रमादित्यको अहिंसा-धर्मका पुजारी बनाया था ।

आंध्रवंशके राजा भी जैनधर्मसे प्रभावित हुये थे। उत्तर भारतके गुप्तवंशके राजा लोग यद्यपि वैष्णव धर्मके श्रद्धालु थे, परन्तु वे भी जैनधर्मसे प्रभावित हुए थे । दक्षिण भारतमें कदम्ब, चालुक्य, राष्ट्रकूट, गंग, होय्सल, शिलाहार, रट्ट, पल्लव, चेट, पाण्ड्य आदि राजवंशोंका जैनाचार्योंने पथ प्रदर्शन किया था । रविवर्मा, अमोघवर्ष, जयसिंह, कुमारपाल आदि शासकोंके धर्मगुरू बड़े २ जैनाचार्य थे। उनके द्वारा राज्य संचालन अहिंसा नियमोंके आधार पर किया जाता था । प्रस्तुत इतिहासके द्वितीय और तृतीय भागोंके कई खंड ग्रंथोंमें हम इन सबका सप्रमाण इतिहास लिख चुके हैं । उनका यह सिंहावलोकन इस बातको स्पष्ट करनेके लिये यहां किया गया है कि जैनोंने वस्तुतः भारतके राष्ट्रीय निर्माण और राजनीतिमें एक महत्वशाली सक्रिय भाग लिया है, क्योंकि कुछ लोगोंकी ऐसी भ्रांति है कि जैनधर्म कभी भी राष्ट्र-प्रधान धर्म नहीं रहा है । ऐसे लोगोंको जैन इतिहासका अवलोकन करके अपने ज्ञानका संतुलन कर लेना चाहिये ।

हमारे इतिहासके तृतीय भागके चार खंड प्रकाशित हो चुके,

प्रस्तुत अंश पांचवां खंड है। इस खंडमें होयसल साम्राज्यके अस्तकालके उपरान्त प्रतिष्ठापित विजयनगर साम्राज्यके अन्तर्गत जैनधर्मके इतिहासको संकलित करना अभीष्ट है।

पांचवां खंड।

होयसल साम्राज्यकी स्थापना जैनाचार्य द्वारा जैनोत्कर्षके लिये हुई थी और उस कालमें जैनोंका उत्कर्ष भी विशेष हुआ था। किंतु श्री रामानुज द्वारा वैष्णवधर्मके प्रचारसे और होयसलनरेश विष्णुवर्द्धनके धर्मप्रवर्तनसे जैनोत्कर्षका सूर्य अस्ताचलको खिसक चला था। उस अवसान कालमें भी जैन राजकर्मचारियों, व्यापारियों और साधारण जनता द्वारा जैनका प्रभाव स्थिर रखनेका सदूप्रयास हुआ था। किन्तु उसीसमय दक्षिण भारतपर मुसलमानोंके आक्रमण हुए। जिनके कारण होयसल साम्राज्य ही जर्जरित हो गया। जैनधर्मकी अति विषम स्थिति हो गई—जैनोंकी आशायें विलीन हो गईं; परन्तु वह पराभूत नहीं हुवे। अलबत्ता जैनकी राज्यमान्यता नष्ट हो गई और उसका स्थान वैष्णवधर्मने ले लिया; फिर भी जैनधर्मकी जड़ें उस प्रदेशमें गहरी जमीं हुई थीं, इसलिये उसे न तो वैष्णवधर्म निकाल सका और नहीं ही मुसलमानोंके आक्रमण!

होयसल नरेश बल्लाल चतुर्थके पराभवने उसके सरदारोंको स्वाधीन होनेका मौका दिया। उधर जनताने यह अनुभव किया कि देशकी रक्षाके लिये एक बलवान शासककी आवश्यकता है। होयसल नरेश इतने शक्तिशाली नहीं रहे थे। साथ ही कोई प्रभावशाली जैनाचार्य

भी उस समय न था जो जैन शासनको फिर आगे लाता। दूसरी ओर जैनेतर आचार्य विद्यारण्य आदि अपनी प्रतिभासे चमक रहे थे। जनताको उन्होंने मुसलमानोंके आक्रमणसे सावधान किया। सब ही सरदारोंने संगठित होकर एक हिन्दू साम्राज्यको स्थापित करनेके लिये जनताको उत्साहित किया। इस मनोवृत्ति और राष्ट्रीय भावनाका परिणाम विजयनगर साम्राज्य था। पाठक आगेके पृष्ठोंमें उसकी स्थापना और राज्य शासनके इतिहासके साथ जैनधर्मकी ऐतिहासिक स्थितिका परिचय अवलोकन कीजिये।

वस्तुतः जैनधर्म भ० ऋषभ द्वारा उद्भुत होकर आजकल अपनी अहिंसा–संस्कृतिके आध्यात्मिक बलपर जीवित रहा है। जैन शासन अहिंसा धर्म प्रकाशमें लोकव्यापक और शक्तिशाली सत्ता रह चुका है। जैन शासनने मानवको उसकी महानतामें प्रगट होने दिया। वह महा मानव हुआ। लोककल्याणकका आदर्श उसने उपस्थित किया। विजयनगर साम्राज्य कालमें जैनधर्मके इस विशाल रूपकी आभा सर्वत्र चमकती थी; पाठकगण वस्तुस्थितिको आगे पढ़िये।

विजयनगर-साम्राज्य

और

उसमें जैनधर्म और जैनियोंकी ऐतिहासिक स्थिति।

विजयनगर साम्राज्यका इतिहास ।

प्रथम संगम राजवंश और जैनधर्म ।

भारतकी पूर्व स्थिति ।

भारतवर्षकी प्राकृतिक रचना ऐसी रही है कि उत्तर भारतके निवासियोंका सम्बन्ध दक्षिणके भारतियोंसे कम रह सका है। भारतका प्राचीन रूप अबसे कुछ अटपटा था—तब उसका विस्तार अफगानिस्तानसे भी कुछ आगेतक फैला हुआ था। एक समय मगध और नेपालके नीचे तक समुद्रकी खाड़ी फैली हुई थी और राजपूतानामें भी समुद्रजल हिलोरे ले रहा था। उधर दक्षिण भारतमें मलय पर्वतसे पश्चिम दक्षिणमें स्थलभाग मौजूद था, जो अब समुद्रके उदरमें समाया हुआ है। उस समय द्राविड़ और असुर जातिके मूल निवासी सारे भारतमें फैले हुये थे; जिनके अवशेष आज भी बिलोचिस्तान, सिन्धु और दक्षिणमें चन्द्रहल्ली आदि स्थानोंपर मिलते हैं। यह मूल निवासी द्राविड़ सर्वथा असभ्य नहीं थे। वह धर्म कर्मको पहिचाननेवाले सुसंस्कृत और सभ्य मानव थे। जैन शास्त्रोंसे स्पष्ट है कि दक्षिण भारतमें पहले—पहले भ० ऋषभने अहिंसा संस्कृतिका प्रचार किया था और उनके पुत्र बाहुबलि दक्षिण भारतके पहले सम्राट् और पहले राजर्षि हुये थे। दक्षिणके प्राचीन ग्रन्थ थोल्कप्पियम् और सिलप्पदिकारम् महाकाव्य सदृश ग्रंथोंसे वहां पर जैन संस्कृतिके प्राचीन अस्तित्वका पता चलता है, जिसका समर्थन पुरातत्वसे भी होता है। *

---

* संजै इ०, भा० ३ खंड १ और २ और 'भपा०' देखो।

वैदिक आर्यधर्म, मालूम होता है, दक्षिण भारतमें जैनधर्मके बहुत समय बाद आया। 'रामायण' से स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषि अगस्त्यने वहांपर सर्वप्रथम ब्राह्मण धर्मको फैलाया था। 'पद्मपुराण' से स्पष्ट है कि नर्मदा तटके असुरोंमें जैनधर्मका प्रचार देवों और दैत्योंके संघर्षकालमें हुआ था[2]। 'भागवत्' से स्पष्ट है कि ऋषभदेवके धर्मको कोंक, वेंक और कुटक देशके राजा अर्हतने वहां प्रचलित किया था[3]। कोंक देश स्पष्टतः कोंकणका और वेंक दक्षिणके 'वेङ्क' देशका द्योतक है। कुटकसे संभवतः कर्णाटक और गंगवाड़ि प्रदेश अभिप्रेत है। यह देश एक अत्यन्त प्राचीनकालसे जैनधर्मके केन्द्र रहे हैं। इनपर ही उपरांत विजयनगर राजाओंके शासन चक्र चला था।

विजयनगर राज्यकी भौगोलिक स्थिति।

होयसल[1] साम्राज्यके भग्नावशेषोंपर ही विजयनगरके हिन्दू साम्राज्यका निर्माण हुआ। परिणामतः विजयनगर साम्राज्यका विस्तार होयसल सम्राटोंके शासित क्षेत्र तक प्रारम्भमें सीमित होना स्वाभाविक है। विजयनगर साम्राज्य दक्षिणके कर्णाटक, मैसूर कोङ्कण आदि प्रदेशोंमें फैला हुआ था। वह भूमि उर्वरा और बहुमूल्य वृक्षों और धातुओंसे परिपूर्ण थी। विजयनगर साम्राज्यकी समृद्धिमें वह भूमि एक मुख्य कारण थी।

१-विइ०, पृ० ५।

२—पद्मपुराण (बम्बई) प्रथम सृष्टि खंड १३ अ०।

३—'तस्य किलानु चरितमुपाकर्ण्य कोङ्क वेङ्क कुटकानां राजाऽर्हन्नमोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणो भवितव्येन विमोहितः........संप्रवर्तयिष्यते।' अ० ६, श्लो० ३९।

राजनैतिक स्थिति।

यह संकेत किया जाचुका है कि मुसलमानोंके आक्रमणोंसे दक्षिण भारतके हिन्दुओंमें आशंका और बेचैनी बढ़ गई थी। लोग अपनी जान और माल लेकर सुरक्षित स्थानोंको भागते थे। स्वयं होय्सल सम्राट्को द्वारासमुद्रके पतन पर अपनी राजधानी वहांसे हटाकर तिरुवन्नमलाईमें स्थापित करना पड़ी थी। देवगिरिके यादव राजा और वारंगलके काकतीय नरेश मुसलमानोंका लोहा मान चुके थे और कृष्णा नदीसे उत्तरमें मुसलमानोंका बहुमनी राज्य स्थापित हो गया था। अलाउद्दीन खिलजीके सेनानायक मलिककाफूरने सन् १३०६ ई०में दक्षिण भारत पर आक्रमण किया था और होय्सल नरेश वीर बल्लाल तृतीयको वह कैदकर लेगया था। किन्तु सुल्तानकी आज्ञाके उपरांत उसे मुक्त कर दिया गया था। मलिककाफूर होय्सल साम्राज्य पर अधिकार जमाकर ही संतोषित नहीं हुआ—उसने आगे बढ़कर मदुराके पांड्य राजाओंको भी परास्त किया और रामेश्वरमें एक मस्जिद बनाकर उसने अपनी विजय-यात्रा समाप्त की थी। वह सन् १३११ ई०में दिल्ली लौट गया था और दक्षिणमें मुसलमानी सत्ताकी रक्षाके लिये पर्याप्त सेना छोड़ गया था। अमीर खुसरूने लिखा है कि मलिककाफूर इस दक्षिण विजयमें ९६००० मन सोना, जवाहिरात, हीरा आदि बहु मूल्य सामिग्री, ५१२ हाथी और १२००० घोड़े लूटकर दिल्ली ले गया था। मुसलमानोंके इस अत्याचारसे हिन्दुओंके हृदयोंमें उनके प्रति घृणा और प्रतिहिंसाकी भावना जागृत हो गई थी और उन्होंने उनको अपने देशसे बाहर निकालनेका

निश्चय किया था। किन्तु अभी वह संभलनेमें भी नहीं पाये थे कि सन् १३२७ ई० में मुहम्मद तुगलकके सेनापति बहाउद्दीनने दक्षिण पर आक्रमण किया था। इस बार मुसलमान लूटमार करके ही संतोषित नहीं हुये, बल्कि उन्होंने दक्षिणमें इस्लामकी जड़ जमानेके लिए लोगोंको जबरदस्ती मुसलमान बनाया। बहाउद्दीनने कम्पिलके राजाको मार डाला और उसके लड़केको मुसलमान बनाया था। इस आक्रमणका प्रभाव दक्षिण भारतके लिए अतीव हानिकारक सिद्ध हुआ। कोई भी हिंदूधर्म सुरक्षित न रहा और समाज व्यवस्था भी छिन्न भिन्न होगई।

मलिककाफूरके दिल्ली लौटते ही होयसल नरेश वीर बल्लाल तृतीय मुक्त हुये और उन्होंने अपना पूर्व गौरव प्राप्त किया था। काकतीय नरेश कृष्णा नायकको अपने साथ लेकर उन्होंने मुसलमानोंसे मोर्चा लिया और वारंगलसे मुसलमानोंको निकाल कर बाहर कर दिया। वीर बल्लालने सन् १३४० ई० में दक्षिण भारतसे मुसलमानोंको निर्मूल करनेके लिये मदुरापर विशाल सेना लेकर आक्रमण किया था। मुसलमान शासक परास्त होगया, किन्तु वीर बल्लालने उसको मुक्त कर दिया। यवनने हिन्दू नरेशकी इस उदार वृत्तिका उत्तर कृतघ्नतामें दिया। मुसलमानोंने धोखेसे रातको आक्रमण कर दिया। हिंदू सेनामें भगदड़ मच गई और इस गड़बड़में वीर बल्लाल भी वीरगतिको प्राप्त हुये। उनके पश्चात् सन् १३४२ से उनका पुत्र विरुपाक्ष बल्लाल चतुर्थ शासनाधिकारी हुआ था; किंतु वह अपने पूर्वजोंके समान प्रतापी और शक्तिशाली नहीं था। इस प्रकार विजयनगर साम्राज्यकी स्थापनाके समय दक्षिण भारतकी राजनैतिक स्थिति एक अत्यन्त शोचनीय दशामें

थी[1]। हिन्दुओंके दिल टूट रहे थे और सब यह अनुभव कर रहे थे कि किस तरह अपनी खोई हुई स्वाधीनता प्राप्त करें।

विजयनगर राज्यकी स्थापना।

सब ही सम्प्रदायोंके विचारशील पुरुष अनुभव कर रहे थे कि किसी पराक्रमी और बुद्धिशाली शासकके नेतृत्वमें हिन्दुओंका सुसंगठित राज्य स्थापित किया जावे। उन्होंने यह भी देखा कि होयसल नरेशोंके सामन्त महामंडलेश्वर राजा हरिहर और बुक्क अतीव शक्तिशाली और चतुर शासक हैं। अतः एक संघ बुलाया गया और उसके निश्चयानुसार हरिहरके नेतृत्वमें एक सुगठित और समुदार राज्यकी स्थापना सन् १३४६ ई० में की गई। यद्यपि वह एक राजतंत्र था, परन्तु उसका ध्येय विशुद्ध राष्ट्रीयता थी—साम्प्रदायिक कट्टरताके जुयेको हिन्दुओंने तब उतार फेंका था। एक राष्ट्रकी भावना उनके हृदयमें तभी जागृत हुई जब कि यवनोंके भयंकर आक्रमणोंने उनकी आंखें खोलीं और साम्प्रदायिकताके विषका घातक परिणाम उनकी दृष्टिमें चढ़ा। वैष्णव, शैव, जैन, और लिंगायत जो आपसमें लड़ा करते थे, उनको एक संगठित-शक्तिमें परिवर्तित करनेका उद्देश्य विजयनगर साम्राज्यकी जड़ जमानेमें कारणभूत था। सन् १३४६ ई० में हरिहरने अपने भाईयों—बुक्क, मारप तथा कम्पणकी सहायतासे लोकमतको मान देते हुए दक्षिण भारतकी स्वाधीनताको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये तुङ्गभद्रा नदीके तीर पर विजयनगर राज्यकी स्थापना की।[2] कतिपय

१–विइ०, पृ० ८–११, मैकु पृ० १०७।

२–ओझा०, भा० ३ पृ० ७० और इंहिक्वा० भा० ९ पृ० ५२१–३३।

विद्वान् इस घटनाको सन् १३३६ ई० में घटित हुई बताते हैं। वह अपने मतकी पुष्टिमें ऐसी शिलालेखीय साक्षी उपस्थित करते हैं जिसमें होयसल सम्राट् वीर बल्लाल तृतीयके समयमें ही हरिहरको महामंडलेश्वर शासनकर्त्ता और विरुपाक्ष बल्लालको सामान्य शासक घोषित किया गया है।[1] किन्तु नवीन ऐतिहासिक सामिग्रीके समक्ष वह मत ठीक नहीं जंचता। होयसल सम्राटोंका यह नियम था कि वे अपने महामंडलेश्वर सामन्तोंको अपने २ प्रान्तमें शासन करनेकी छूट देदेते थे। उनके ही अनुरूप विजयनगर सम्राटोंने भी सामन्तोंके लिये होयसल विरुद 'महामंडलेश्वर' चालू रक्खा था और उन्हें प्रान्तीय शासनाधिकार भी दिया था। हरिहर होयसल नरेश वीर बल्लालके पराक्रमी सामन्त थे। उन्होंने इसी लिये हरिहरको सरहदका शासन-कर्ता नियुक्त किया। हरिहरने होयसल साम्राज्यकी रक्षाके लिये ही उस सरहदी प्रदेशमें किले और दुर्ग बनवाये थे। उनके भाई भी होयसल साम्राज्यकी रक्षा ही क्या? बल्कि कहिये हिन्दू राष्ट्की

१–श्री वासुदेव उपाध्यायने मि० राइस आदिकी भांति इस पुरातन मतका प्रतिपादन किया था। —विइ०, पृ० १६।

२–सामन्तोंके दानपत्रोंमें सम्राट्का उल्लेख न होनेसे यह नहीं कहा जासकता कि वह शासक स्वाधीन होगया था। वीर बल्लालने देश-रक्षाकी आवश्यक्ताके समक्ष अपने महान पद और सामन्तोंके पदोंका ध्यान ही नहीं रक्खा। एक शिलालेखमें बल्लाल तृतीय दंडनायक मेदगिरेय और अलिय माचेयके साथ शासन करते लिखे गये हैं।(इका० ११।२) ऐसे ही और भी उल्लेख हैं! विजयनगर राज्यकालके शिलालेखमें भी प्रान्तीय शासकों द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि वे शासक स्वाधीन थे। विशेषके लिये 'इंडियन हिस्टॉरीकल क्वार्टरली' भा० ८ व ९ में प्रकाशित प्रो० साल्तोरेका लेख देखो।

रक्षाके लिये अपने शौर्यको प्रकट कर रहे थे। होयसलोंने काकतीय नरेशके साथ राष्ट्रकी रक्षाके लिये ही एक संघकी स्थापना की थी। अतः यह प्रतिभाषित नहीं होता कि हरिहर और उसके भाइयोंने होयसलसे बगावत करके अपनेको स्वाधीन शासक घोषित किया था। साथ ही एक शिलालेखसे यह स्पष्ट है कि होयसल नरेशोंमें सर्व अन्तिम विरुपाक्ष बल्लालका राज्याभिषेक हुआ था। अतः वह भी शासनाधिकारी रहे थे। हरिहरने सन् १३४६ के पहले 'महाराजाधिराज' पद धारण ही नहीं किया था। इसी कारण विद्वज्जन सन् १३४६ ई० से विजयनगर साम्राज्यका श्रीगणेश हुआ मानते हैं।

विजयनगरका प्रथम राजवंश (काकतीय नहीं।)

विजयनगरके आदि शासक हरिहरके राजवंशके विषयमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। सीवेल, विल्सन आदि विद्वान् उनका सम्बन्ध काकतीय राजवंशसे स्थापित करते हैं। उनका कथन है कि हरिहर और बुक्क काकतीय नरेश प्रतापरुद्रदेवके कोषाध्यक्ष थे। किन्तु मुसलमानोंके वरंगल पर आक्रमण करने पर वह वीर बल्लालकी शरणमें पहुंचे थे। जिन्होंने इनको अपना 'महामंडलेश्वर' नियुक्त किया था। इसमें शक नहीं कि हरिहर और बुक्क वीर बल्लाल तृतीयके 'महामंडलेश्वर' सामन्त होकर रहे थे; परन्तु यह स्पष्ट नहीं कि वे काकतीय वंशमें उत्पन्न हुये थे। होयसलनरेश वीर बल्लालकी शत्रुता काकतीयनरेश प्रतापरुद्रसे थी—तब भला बल्लाल अपने शत्रुके वंशजको कैसे महामंडलेश्वर पद पर नियुक्त करते ? अतः विजयनगर नरेशोंका सम्बन्ध काकतीय राजवंशसे मानना ठीक नहीं है।[१]

१-विज०, पृ० १९, एवं कर्णाके०, भा० २० पृष्ठ ९.

कदम्बवंशी भी नहीं।

राइस सा० ने विजयनगर राजवंशकी उत्पत्ति कदम्बवंशके राजाओंसे अनुमान की थी; यद्यपि अन्तमें उन्होंने उनको यादववंशी स्वीकार किया था।[1] कदम्बकुलसे उनका सम्बन्ध ठीक बैठता ही नहीं है, क्योंकि हरिहरके भाई माप्प द्वारा कदम्ब कुलके नाश किये जानेकी बात इस मान्यताके विरुद्ध पड़ती है। कोई भी व्यक्ति अपने हाथसे अपने कुलका नाश नहीं करेगा।[1] अतएव विजयनगर नरेश कदम्ब कुलके नहीं कहे जा सकते।

बल्लालवंशसे सम्बन्ध।

सर्वश्री हेरास, वेङ्कय्य और कृष्ण शास्त्री प्रभृति विद्वज्जन विजयनगर नरेशोंको बल्लाल सम्राट्के सामन्त रूपमें उन्नत हुये मानते हैं; किन्तु श्री रामशर्मा इसके विपरीत विजयनगर साम्राज्यको कम्पिल राज्यके ध्वंशावशेषों पर खड़ा हुआ घोषित करते हैं।[2] पर इस प्रसंगमें यह बात वह भूल जाते हैं कि बहाउद्दीनके आक्रमणमें कम्पिल बिल्कुल नष्ट हो गया था। इसके बाद उसका अस्तित्व ही न रहा।[3] किन्तु होय्सल राज्यके सम्बन्धमें यह बात नहीं हुई। बल्लाल नृप इस आक्रमणके बाद भी अपनी सत्ताको स्थिर रख सके और मदुराके मुसलमानोंसे उन्होंने मोर्चा लिया था। इस अवस्थामें यह मानना पड़ता है कि होय्सल राजाओंकी ही राजसत्ता उस समय दक्षिण

१–विह० पृ० २० और मेकु०, पृ० १११. २–जमीसो०, भा० २० पृ० ५–१४. ३–कम्पिलनरेश रामतीर्थके साथ सेनाप नामक [illegible] [illegible] रहे थे; किन्तु हरिहर और बुक्क उनके साथ नहीं रहे थे।

भारतमें अन्त तक सर्वोपरि रही थी। हरिहर और बुक्क उन्हींके महामंडलेश्वर थे। होय्सल राजवंशके समाप्त होने पर ही उन्होंने शासन भार संभाला था और विजयनगर राज्यकी स्थापना की थी। अतः यही युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि हरिहर आदि विजयनगर नरेशोंका राजवंश भी वही था जो होय्सल नरेशोंका था।

संगम (यादव) राजवंश।

होय्सलनरेश अपनेको यादव-कुल-चन्द्र श्रीकृष्णका वंशज और द्वारावती पुरवराधीश्वर घोषित करते थे।[1] हरिहर और बुक्कने भी अपनेको यादव राजकुलसे उत्पन्न या कृष्णके वंशज लिखा है। वे संगम नामक राजाके पुत्र थे।[2] अतः यह मानना ठीक है कि विजय-नगरके राजा यादवकुलोत्पन्न होय्सल राजवंशसे संबंधित थे।

संगमनरेश।

विजयनगर राज्यके आदि शासक और संस्थापक हरिहर एवं बुक्कके पिता संगमनरेश थे। उनके नामकी अपेक्षा यह राजवंश 'संगम' नामसे प्रसिद्ध हुआ था। संगम चन्द्रवंशी यादव नरेश थे। उनके पिताका नाम अनन्त और माताका नाम मेघाम्बिका था।

१-संजैइ०, भा० ३ खंड ४।

२-"सोमवंश्या यतः श्लाघ्या यादवा इति विश्रुताः।
तस्मिन् यदुकुले श्लाघ्ये सोऽभूच्छ्री संगमेश्वरः॥
येन पूर्वविधानेन पालिताः सकला प्रजाः।"

—हरिहर द्वि० का नेलोर दानपत्र, ए०इ० पृ० ४०.

उन्होंने किस प्रदेश पर शासन किया, यह ज्ञात नहीं है।[1] परन्तु विजयनगरके संस्थापकोंके पिता होनेके कारण शिलालेखोंमें उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की गई है। 'वह हिमालयके सदृश गंभीर और धीर थे। कार्तिकेयके समान वीर, प्रकाशके समान तेजस्वी और प्रभायुक्त थे।' उनके चरणकमलोंपर राजाओंके मणियुक्त मुकुट झुके रहते थे। उन्होंने मुसलमानोंसे सफल युद्ध किये थे, इन सब बातोंको देखते हुये संगम एक प्रतापी सामन्त प्रमाणित होते हैं।[2] 'परदार-सोदर-रामन–कथे' नामक ग्रंथमें देवगिरिके राजाधिराज रामदेवके वंशज कम्प राजेन्द्रका चरित्र दिया हुआ है। इन कम्प राजेन्द्रने कम्पिल राज्यको उन्नत बनाया था। वह कुन्तल प्रदेश पर होसदुर्गसे शासन करते थे। उनका राजदुर्ग कुम्मट या गुम्मट नामसे प्रसिद्ध था। वहां शैव, वैष्णव, जैन सभी सम्प्रदायोंके लोग सानन्द रहते थे। चालुक्यकलाका द्योतक एक प्राचीन जैन मंदिर अब भी वहां अपनी जीर्णशीर्ण दशामें मौजूद है। इन कुम्मटनरेशकी राजकुमारी मारम्मका विवाह संगमदेवसे हुआ था। इस ग्रन्थमें संगमको 'देव' और 'नरपाल' जैसे प्रतिष्ठासूचक विरुदोंसे सूचित किया गया है। यह संगम कम्पिल नरेश रामनाथके साथ बल्लाल, काकतीय और मुसलमानोंसे लड़ा था।[3]

१–वि०इ०, पृ० २३.

"सोमवंश्या यतः श्लाघ्या यादवा इति विश्रुताः।
तस्मिन् यदुकुले श्लाघ्ये सोऽभूच्छ्रीसंगमेश्वरः॥
येन पूर्वविधानेन पालिताः सकला प्रजाः।"—नेलोर दानपत्र। (शका० ३१४०) २–विइ०, पृ० २४. ३–जमीसो०, भा० २० पृष्ठ ५–१४, ८९–१०६, २०१–२११ एवं २६१–२७०.

कह नहीं सकते कि विजयनगर संस्थापक हरिहरके पिता संगम और वह संगम एक व्यक्ति हैं ।

मूलावास और विजयनगर ।

कहा जाता है कि संगमका मूलस्थान मैसूरके पश्चिमी भागमें 'कलास' नामक स्थान था।[१] अत: पश्चिमी मैसूरसे आकर हरिहर और बुक्क कर्णाटककी राजनीतिका संचालन करने लगे और अन्त: विजयनगरके संस्थापक और पहले शासक हुये। जहां पर पहले अनगुन्डि नामक छोटासा नगर बसा हुआ था, वहां पर ही उन्होंने विजयनगर या विजेयानगरकी नींव डाली।[२] अनगुन्डिके पूर्वी और दक्षिणी दिशाओंमें तुङ्गभद्रा नदी बहती थी। विजयनगर वहां ही बसाया गया। उसकी स्थापना हिन्दू राष्ट्रकी विजय और समृद्धिके लिये की गई थी। इसलिये उसका नाम विजयनगर रखना उचित ही था। शिलालेखोंमें उसका उल्लेख विजेयानगर[३], विद्यानगर[४] और हस्तिनावती[५] नामसे भी हुआ है। अनगुण्डिको हस्तिकोण भी कहते थे। और विजयनगरकी स्थापना अनगुण्डि-स्थान पर हुई, इसीकारण उसका दूसरा नाम हस्तिनावती भी हुआ। किन्तु विद्यानगर तो वह बादमें कहा गया प्रतीत होता है, जब कि माधवाचार्य विद्यारण्यका सम्बन्ध हरिहरसे जोड़ा गया। निस्सन्देह हरिहर और बुक्क कट्टर

१–विइ०, पृष्ठ २४. २–जमीसो०, भा० २० पृष्ठ २८४.
३–ASM, 1939, p. 155 नमोहीलका शिलालेख नं० ४१.
४–ASM., 1940, p. 148. ५–ASM., 1943, p. 133. नगरतालुक नं० १०. ६–ASM., 1932, p. 107.

वैष्णव और विरुपाक्षके भक्त थे। वे शृङ्गेरी मठकी वन्दना करने भी गये थे; परन्तु यह प्रमाणित नहीं कि माधवाचार्य विद्यारण्यने उनको राज्य स्थापनाकी प्रेरणा की और उसको समृद्धिशाली बनाया।

वास्तवमें बात यह है कि हरिहरके एक प्रमुख दंडनायक और सेनापतिका नाम भी माधव था। माधवाचार्यके भक्तोंने दोनोंको एक मान लिया और माधव विद्यारण्यको ही सेनापति माधव बना दिया। किन्तु यह स्पष्ट है कि वे दो भिन्न व्यक्ति थे। माधवाचार्य विद्यारण्य हरिहरके धर्मगुरु अवश्य थे, परन्तु उनका सम्बन्ध विजयनगरकी राज्य व्यवस्थासे कुछ न था।[1] इसलिये उनके नामकी अपेक्षा विजयनगर उस समय विद्यानगर कहलाया जबकि विजयनगर राज्यकी स्थापनाके बाद विद्यारण्यका सम्बंध जोड़ा गया था। 'विद्यारण्यकीर्ति' नामक पुस्तकमें उल्लेख है कि विरुपाक्षदेवने विद्यारण्यको तंत्रमतानुसार विजयनगरीका पुनः निर्माण करनेकी आज्ञा दी, क्योंकि वह नष्ट हो चुकी थी–यद्यपि एक समय उसका विस्तार दो योजनका था और उसकी गिनती बड़े नगरोंमें थी।[2] इस उल्लेखसे भी स्पष्ट है कि विजयनगर विद्यानगरके पहलेसे ही विद्यमान था। किसी कारणसे जब उसका ह्रास हुआ तब विद्यारण्यने उसका पुनरोद्धार कराया।

१–हेरास० और ओझा० भा० ३ पृष्ठ ७०–७३.

२–'पीठेष्वष्टसु संख्याता नगरी विजयाह्वया। आयामविस्तरतया योजन द्वय सम्मिता। मतंग इति तन्मध्ये राजते सर्वकामदः। सा पुरी काल संसर्गादिदानीं क्षयमागता। संशोध्य सर्वतन्त्राणि भूयोपि नगरीमिमां सम्यक्निर्मापयता मेरुमण्डलं प्रमाण्ये।' (वि० का० पृ० १०).
—A. S. M., 1932, p. 103.

विद्यारण्य द्वारा पुनरोद्धार होनेके कारण ही विजयनगर विद्यानगर नामसे प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है ।

विजयनगरका वैभव ।

विजयनगरका वैभव महान् था-वह लोकके महान् नगरोंमेंसे एक था । आजकल उसे हम्पि कहते हैं । मद्रास प्रान्तके वर्तमान बल्लारि जिलेके अन्तर्गत होसपेटे तालुकेमें वह हम्पिग्राम है। वास्तवमें विजयनगरके ध्वंशावशेषका प्रतीक ही हम्पि है, जो नौ वर्गमीलमें फैले हुए हैं। दूर-दूरसे यात्री और व्यापारी इस नगरका विशाल रूप देखने आते थे, परन्तु आज वह धराशायी है। उसका पूर्व वैभव उसके खण्डहरोंमें छुपा पड़ा है। उसके अनूप रूपको देखकर विदेशोंके यात्री दंग रह जाते थे। सन् १४४२ ई० में अब्दुलरज्जाक नामक यात्री विजयनगर देखने आया था। उसने लिखा था कि वैसा नगर कहीं दृष्टिमें नहीं आया और न उसकी बराबरीका कोई नगर दुनियांमें सुनाई पड़ा। वह नगर सात कोटोंमें बसा हुआ था। सातवें कोटमें राजमहल थे। प्रत्येक वर्गके व्यापारी वहां मौजूद थे। हीरा, मोती, लाल आदि जवाहरात खुले बाजार बिकते थे। अमीर और गरीब सभी जवाहरातके कंठे, कुण्डल और अंगूठियां पहनते थे।[1] पन्द्रहवीं शताब्दिमें दमश्क (सिरिया) से निकोलोकॉन्टि (Nicolo Conti) नामक एक

1. "The city of Bidjanagar is such that pupil of the eye has never seen a place like it, and the ear of intelligence has never been informed that there existed anything to equal it in the world. It is built in such a manner that seven citadals and the same number of walls enclose each other etc."

—Major pp. 23-26.

पर्य्यटक भारत आया था। उसने भी विजयनगर देखा था। विजय-नगरको वह पर्वतोंके निकट बसा हुआ विशालनगर बताता है। उसने लिखा है कि विजयनगर साठ मीलके क्षेत्रमें बसा हुआ था और उसकी दीवालें पर्वतोंसे बातें करती थीं--बहुत ऊंची थी।[1] वहांकी सड़कों तक पर बहुमूल्य जड़े रत्न हुये थे। १× ये उल्लेख विजयनगरकी विशालता और विभूतिका बखान स्वत: करते हैं। इस नगरमें अनेक जिनमंदिर शोभायमान थे; जिनमेंसे कुछ अब भी मौजूद हैं। यही संगमराजवंशकी और उसके उत्तराधिकारियोंकी राजधानी थी। मालूम होता है कि विजयनगरका निर्माण नहीं हुआ था, तबतक हरिहर और बुक्क बल्लालोंकी राजधानी द्वारा समुद्र (हलेबिड) से ही शासन करते रहे थे।

हरिहर प्रथम।

संगमके पांच पुत्र—१ हरिहर, २ कम्पण, ३ बुक्क, ४ मारप्प और ५ मद्दप्पा नामक थे। इनमें हरिहर सर्वश्रेष्ठ और विजयनगरके संस्थापक थे। 'फिरिश्ताने लिखा है कि उत्तरके मुसलमानी आक्रमणकी आशंकासे वीर बल्लालने अपने जातिवालोंकी एक महती सभा की।' इसी सभामें हरिहर और उनके भाइयोंको विधर्मियोंके आक्रमणोंको विफल करनेका महती कार्य सौंपा गया था।[2] विरुपाक्षपुरकी किले-बंदी की गई और महामंडलेश्वर पदपर हरिहर नियत किये गये। विद्वगुन्ठकी प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि हरिहरने किसी मुसलमान सुल्तानको

१–Major Pt., II P- 6. १×. जैशिभा० भा० १० पृ० ४।
२–विह०, पृ० २५–२६।

परास्त किया था।[1] हरिहरकी वीरताका परिचय इस महती कार्यसे स्वतः होता है। बल्लालोंके राज्यकालमें हरिहर सामन्त रूपमें ही शासन करते रहे। उनके सुचारु शासन प्रबंध और दुर्दम्य शौर्यने उन्हें जनप्रिय बना दिया। अतः होय्सल राज्यकी समाप्ति पर हरिहर ही जनताके निकट मान्य शासक हुये। संगम राजवंशके वह पहले नरेश और विजयनगर राज्यके संस्थापक हुये। हरिहरकी सत्ताको दक्षिण भारतके प्रायः सभी छोटे शासकोंने मान्य किया था। उसके भाइयोंने भी उसे अपना सम्राट् स्वीकार कर लिया था। वे सब उसके शासनमें प्रांतोंके अधिपति रहे थे। कम्पण दक्षिण पूर्वका अधिपति था। बुक्क द्वारासमुद्रमें शासनाधिकारी था। मारप्पा प्राचीन बनवासी राज्यका शासन प्रबंध करता था। होय्सलके आधीन जो शासक थे उनमेंसे कतिपय शासक कदम्ब, कोंकण, तेलेगु और मदुराके मुसलमान शासकोंसे मिलकर विद्रोही हुये थे और दिल्लीके तुगलक सुल्तानने भी हरिहरको परास्त करनेका प्रयास किया था, परन्तु यशस्वी वीर हरिहरने उन सबको परास्त करके देशमें सुख और शांतिको स्थापित किया था। अंग कलिंग और पांड्य देशोंमें भी उनकी सत्ता मान्य हुई थी। इसप्रकार तुङ्गभद्रासे लेकर पांड्य देश तक समस्त भाग हरिहरके आधीन रहा था। सन् १३५४ ई० में बुक्कको उसने अपना युवराज बनाया था। उसने अपने भ्राताओंके सहयोगसे सन् १३४६ ई० से १३५५ ई० तक सुचारुरूपमें शासन किया था। सन् १३५५ में वह स्वर्गवासी हुआ था।[2]

१—'तत्र राजा हरिहरो धरणीमशिषच्चिरम्। सुत्रामवद्यो येन सुरत्राणाः पराजितः॥' (प० इ० २)। २–विइ० पृ० २८–२९।

हरिहरके शासनमें जैनधर्म।

यद्यपि हरिहरनरेश विरुपाक्षदेवके भक्त थे, परन्तु उनके शासन-कालमें जैनधर्मको भी आश्रय मिला था। विजयनगर सम्राटोंने समुदार नीति धारण की थी—उनके निकट उन सबको ही संरक्षण प्राप्त था, जो मुसलमानोंके विरोधी थे। जैनधर्मको भी उनके निकट प्रश्रय मिला था।[1] हरिहर प्रथमके शासनकालमें बेल्लारी जिलेका रायदुर्ग नामक स्थान एक प्रमुख जैन केन्द्र था। यहां मूलसंघके आचार्य प्रसिद्ध थे। सन् १३५५ ई० में भोगराज नामक जैन व्यापारीने शान्तिनाथ जिनेश्वरकी प्रतिमा वहां प्रतिष्ठित कराई थी और उत्सव मनाया था। सारस्वतगच्छ, बलात्कारगण और कोण्डकुन्दान्वयके अमरकीर्ति आचार्यके शिष्य माघनन्दि आचार्य भोगराजके गुरु थे।[2] तब जैनोंको अपना धर्म पालने और उसका प्रचार करनेकी पूर्ण सुविधा प्राप्त थी। हरिहरके सम्बन्धी भी कई जैन थे, जिनको उन्होंने अपने आधीन महामंडलेश्वर नियत किया था। हरिहरने अपनी इकलौती बेटीका विवाह बल्लाल राजकुमार बाल्लप्पा दंडनायकके साथ किया था।[3] तुलु राज्यके जैन राजाओंको सब ही अधिकार उन्होंने प्रदान किये थे। गर्ज यह कि विजयनगर राज्यमें जैनोंको प्रारम्भसे ही सम्मान और संरक्षण प्राप्त था।

बुकराय प्रथम।

हरिहरके उत्तराधिकारी उनके भाई बुक्क हुये, जो सन् १३५५में

१—अर्थयार०, पृ० २९८–९९। २—मेजै०, पृ० ३३८। ३—दक्षिण०, पृ० १२८। ४—बेशिमा० भा० २ पृ० ९३४।

हरिहरकी मृत्युके पश्चात् राजसिंहासनपर बैठे थे। वैसे वह बल्लाल तृतीयके समयसे ही राज्यके दक्षिणी भागका शासन प्रबंध करते थे। हरिहरकी मृत्युके साथ ही तेलुगू प्रांतमें विद्रोह प्रारम्भ होगया था, किन्तु प्रतापी बुक्कने इन विद्रोहियोंको शीघ्र ही परास्त कर दिया था। बुक्कके युद्ध–कौशल और तलवारकी चमचमाहटसे शत्रुओंके दिल दहल जाते थे। बुक्कने आन्ध्र, अङ्ग और कलिङ्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। परंतु बुक्कका अधिक समय बहमनी राज्यके प्रसिद्ध शासक मुहम्मदशाह (सन् १३५८–१३७७ ई०) से युद्ध करनेमें बीता था। पहले बुक्कने मुसलमानोंको परास्त करके उनके कई किलोंपर अधिकार जमा लिया था, किन्तु बादमें दौलताबादके नवाबकी सहायता पाकर मुसलमान कामयाब होगये थे। सत्तरहजार हिन्दू इस युद्धमें मारे गये थे। बुक्कको यह युद्ध मुसलमानोंके अत्याचारोंके कारण ही लड़ना पड़ा था। आखिर दोनों शासकोंमें संधि होगई थी। उन्होंने महाराजाधिराजकी पदवी धारण करके अपने नामके सिक्के भी चलाये थे।[1]

जैनोंका संरक्षण।

राज्यमें शान्ति स्थापित हो जानेपर बुक्करायने हिन्दूधर्मको उन्नत बनानेके प्रयत्न किये। शृङ्गेरीमठमें जाकर उन्होंने अपने गुरु माधवाचार्यकी वन्दना की और कई गांव भेंट किये। वेदोंके टीकाकार सायणाचार्यको भी उन्होंने प्रश्रय दिया। और शासन व्यवस्था उनके देखरेखमें आगे बढ़ाई। किन्तु वैदिक मतानुयायी होते हुए भी देवरायने जैनोंको अपना धर्म पालन करनेका अवसर दिया था।[2]

१–विह०, पृष्ठ ३१–४१. २–विह०,

विजयनगर साम्राज्यकी स्थापनासे १७ वर्षों बाद ही सन् १३६३ ई० में जैनधर्म विषयक एक धार्मिक विवाद उठ खड़ा हुआ था। इस विवादका निपटारा जिस निष्पक्षभावसे किया गया, उससे यह छिपा नहीं रहा कि विजयनगर साम्राज्यके अन्तर्गत जैनियोंके अधिकार सुरक्षित हैं—विजयनगर सम्राटोंका राजधर्म भले ही वैदिक मत रहा, परन्तु उनके द्वारा जैनधर्ममें हस्तक्षेप होनेका कोई भय नहीं था। हरिहरराय प्रथमका पुत्र विरुपाक्ष ओडेयर मलेराज्य प्रान्त पर महामण्डलेश्वर रूपमें शासन कर रहा था। यह विवाद उसीके सम्मुख उपस्थित हुआ। विवाद हेद्दुरनाडके अन्तर्गत तड्ड़ाल नामक स्थानके प्राचीन जैन मंदिर 'पार्श्वनाथ बस्ति' की जमीनसे सम्बन्ध रखता था। हेद्दुरनाडकी वैदिकमतावलम्बी जनता उस जमीन पर अपना अधिकार बता रही थी। राजाने इस मामलेकी जांच करनेकी आज्ञा दी और मलेराज्यकी राजधानी आरगकी चावडी (लोकागार) में मामलेकी जांच पड़ताल की गई। इसमें दोनों पक्षके प्रमुख पुरुष बुलाये गये थे। मलप आदि जैन नेताओंने उपस्थित होकर अपने दावाको प्रमाणित किया। अन्तमें सर्वसाधारण जनताकी सम्मतिसे प्राचीन प्रथाके अनुसार ही मंदिरकी जमीनकी सीमायें निश्चित कर दीं गई और उसकी और जायदाद भी सुरक्षित बना दी गई। सर्व सम्मतिसे यह निर्णय पत्थर पर खुदवा दिया गया।[1]

वैष्णवों और जैनोंमें सन्धि।

उपर्युक्त घटनाके केवल पांच वर्ष बाद ही बुक्कराय प्रथमके

१–इका०, भाग ८ पृ० २०६–२०७ व मेजै०, पृ० २८७–२८८.

समक्ष भी एक ऐसी ही साम्प्रदायिक समस्या उपस्थित हुई। सन् १३६८ ई० के एक शिलालेखसे पता चलता है कि उस समय जैनों (भव्यों) और श्री वैष्णव (भक्तों) में आपसी तनातनी होगई थी। वैष्णवोंने जैनियोंके अधिकारोंमें कुछ हस्तक्षेप किया था। इस पर आनेगोण्डि, हौसपट्टण, पेनुगोण्ड और कल्लेहनगर आदि सब ही नाडुओं (जिलों) के जैनियोंने मिलकर सम्राट्की सेवामें न्यायकी प्रार्थना की थी। देवरायने अठारह नाडुओं (जिलों) के श्रीवैष्णवों और कोविल, तिरुमले, कांची, मेल्कोटे आदिके आचार्योंको एकत्रित किया और उनको आपसमें मेलसे रहनेका आदेश दिया था। नरेशने जैनियोंका हाथ वैष्णवोंके हाथपर रखकर कहा कि धार्मिकतामें जैनियों और वैष्णवोंमें कोई भेद नहीं है। जैनियोंको पूर्ववत् ही पञ्चमहावाद्य और कलशका अधिकार है। जैन दर्शनकी हानि और वृद्धिको वैष्णवोंको अपनी ही हानि व वृद्धि समझना चाहिये। श्री वैष्णवोंको इस विषयके शासन लेख सभी देवालयोंमें स्थापित कर देना चाहिये। जबतक सूर्य और चन्द्र हैं तबतक वैष्णव जैनधर्मकी रक्षा करें। देवरायका यह शासन सभीको मान्य हुआ। इस निष्पक्ष न्यायका विवरण श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १३६ (३४४) शक सं० १२९० में अङ्कित है।[1] इसके अतिरिक्त लेखमें कहा गया है कि प्रत्येक जैनगृहसे कुछ द्रव्य प्रति वर्ष एकत्रित किया जायगा जिससे बेलगोलके देवकी रक्षाके लिये बीस रक्षक रक्खे जावेंगे व शेष द्रव्य मंदिरोंके जीर्णोद्धारादिमें खर्च

१-जैशिसं०, पृ० २६३-२६५ व मेजै०, पृ० २८१.

किया जावेगा। जो इस शासनका उल्लंघन करेगा वह राज्यका, (जैन) संघका और (वैष्णव) समुदायका द्रोही ठहरेगा।'[1] इस राजशासनका परिणाम यह हुआ कि जैन और वैष्णव प्रेमपूर्वक रहने ही नहीं लगे; बल्कि एक दूसरेके धार्मिक कार्योंमें सहयोगी भी हुये; क्योंकि इसी लेखके अंतमें लिखा हुआ है कि कल्लेहके हर्विसेट्टीके पुत्र बसुविसेट्टिने बुक्करायको प्रार्थनापत्र देकर तिरुमलेके तातय्यको बुलाया और उक्त शासनका जीर्णोद्धार कराया था। जैन और वैष्णवोंने मिलकर बसुविसेट्टीको 'संघनायक' की पदवी प्रदान की थी। जैन और वैष्णवोंने एक स्वरसे 'जैनधर्मकी जय' का नारा लगाया था।[2] यवनोंसे धर्मायतनोंकी रक्षाके लिए दोनों ही सम्प्रदायवाले कटिबद्ध होगये थे और आपसी वैमनस्यको भूलकर संगठित हुये थे।

राष्ट्रीय संगठन और मतसहिष्णुता।

साम्प्रदायिक कट्टरताका अन्त करके परस्पर संगठन करनेकी उच्च भावना उस समय वैष्णव, शैव, जैन—सभीके हृदयोंमें हिलोरे ले रहीं थीं। यवनोंसे अपने धर्म और देशकी रक्षा करनेका जोश हृदयोंमें उमड़ा हुआ था। इसका उदाहरण कदम्बहल्लिकी शान्तीश्वर बस्तीके स्थंभ लेखमें देखनेको मिलता है। उसमें कहा गया है कि "यमादि योग गुणोंके धारक, गुरु और देवोंके भक्त, कलिकालकी कालिमाके प्रक्षालक, लाकुलीश्वर सिद्धान्तके अनुयायी, पञ्चदीक्षा कियाओंके विधायक सात करोड़ श्रीरुद्रोंने एकत्रित होकर मूलसंघ, देशीगण, पुस्तक गच्छके कदम्बहल्लके जिनालयको 'एककोटि जिनालय' की उपाधि

1-जैशिसं०, भूमिका पृ० १०२-१०३. 2-मेजैस्मा०, पृ० ३६५.

तथा पञ्चमहावाद्यका अधिकार प्रदान किया।" और घोषित किया कि "जो कोई इसमें 'ऐसा नहीं होना चाहिये, कहेगा वह शिवका द्रोही ठहरेगा।[1] पारस्परिक सौहार्द और मतसहिष्णुताका यह कैसा सुन्दर उदाहरण है? इसमें मूल कारण विजयनगर सम्राटोंकी उदार नीति और समभाव दृष्टि थी। निस्सन्देह बुक्करायके राज्यकालमें शैव, वैष्णव तथा जैन धर्मोंका प्रचार निर्विघ्न रूपसे हुआ था।

हरिहर द्वितीय।

बुक्करायके पश्चात उसका जेठा पुत्र हरिहर द्वितीय लगभग सन् १३७९ ई०में विजयनगर साम्राज्यका अधिकारी हुआ। इस वर्षके उसके सर्व प्रथम लेखमें हरिहर द्वि०का सम्बोधन 'महाराजाधिराज राजपरमेश्वर' रूपमें हुआ है। संगमवंशका यह पहला शासक था जिसने राजसिंहासन पर बैठते ही सम्राट्की महान् पदवी धारण की थी। इसकी माताका नाम गौरी था। सायणाचार्य हरिहरके भी राजमंत्री रहे थे। बहमनी सुलतानोंसे हरिहरका भी घोर युद्ध हुआ था, जिसमें हिन्दुओंको करारी चोट खानी पड़ी थी। हरिहरने चालीस लाख रुपया देकर बहमनीके शासकको शान्त किया था। उपरान्त हरिहरने चोल, चोर और पांड्य राजाओंको परास्त किया था। इस विजयोपलक्षमें वह 'शार्दूलमदभंजन' कहलाया था। हरिहरका राज्य सुदूर दक्षिण तक विस्तृत होगया था। मुसलमान शासकोंसे सफल मोर्चा लेनेके लिये विजयनगर सम्राट्का इस प्रकार शक्तिशाली होना उचित ही था। हरिहरने अपने इस विशाल राज्यको कई

१–जैशिसं०, भूमिका पृ० १०३।

प्रान्तोंमें बांट कर समुचित शासन व्यवस्था की थी। उसके लेखोंमें निम्नलिखित प्रान्तोंका उल्लेख हुआ मिलता है:-(१) उदयगिरि राज्य, (२) पार्कविषय, (३) गुर्त्ती राज्य (४) मलेह (प्राचीनवनवासी) राज्य, (६) तुलुराज्य तथा (७) राज्य गम्भीरराज। इन प्रान्तोंपर उसने अपने राजकुमारों और प्रतिष्ठित व्यक्तियोंको प्रान्तीय शासक नियत किया था। हरिहरका शासन प्रबन्ध इतना सुव्यवस्थित था कि उसकी ख्याति चारों ओर फैल गई थी।[१]

हरिहर द्वि० के धर्मकार्य।

हरिहरके द्वारा भारतीय संस्कृतिके अभ्युदयका प्रयास हुआ था। वह स्वयं शैव और 'विरुपाक्ष' का पुजारी था; परन्तु अन्य मतोंके प्रति भी वह उदार था। वैदिक मतके उत्कर्षके लिये हरिहरने जो कार्य किया, उसके कारण वह 'वैदिकमार्ग-स्थापनाचार्यः' और चतुर्वर्णाश्रमपालकः' कहलाया था। वह अपने समयका एक बड़ा दानवीर राजा था।[२] उसने जैनधर्मोत्कर्षके लिये मूड़बिद्री और जैन मंदिरोंको दान देकर अपनी धर्मसहिष्णुताका परिचय दिया था।[३] हरिहरके कई राजकर्मचारी भी जैन थे।[४] हरिहरके राजदरबारमें वाजिवंशके भूषण मधुर नामक जैन विद्वान् राजकवि थे, जिनका एक विरुद 'भूनाथस्थान चूड़ामणि' था।[५] वीर हरिहररायकी एक रानी, जिनका नाम बुक्कवे था, जैनधर्मसे प्रभावित हुई थीं।[६] उन्होंने राजमंत्री इरुगप्प द्वारा

१-विह०, पृ० ४१-४३। २-विह०. पृ० ४५-४६ ३-आर्के० सर्वे ऑव साउथ इण्डिया, भाग २ (सीवेल)। ४-मेजै०, पृ० ३०५-३०६। ५-मेजै०, पृ० ३७६। ६-मेजै०, पृ० ३०१ पृ० २४५ व बैशि० भा० २ पृ० १३४।

निर्मापित जिनमंदिरके लिये दान दिया था। इस प्रकार हरिहररायके शासनकालमें भी जैनधर्म अपने पूर्व गौरवको प्राप्त करनेमें सफल हुआ था। श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १२६ (३२९) से हरिहर द्वि० की मृत्यु भाद्रपद कृष्णा दशमी सोमवार शक संवत् १३२६ (सन् १४०४) को हुई प्रमाणित है।[1]

बुक्क द्वि० व देवराय प्रथम।

सन् १४०४ ई० के पश्चात् हरिहरका ज्येष्ठ पुत्र देवराय प्रथम विजयनगर साम्राज्यका अधिकारी हुआ।[2] किन्तु किन्हीं विद्वानोंका यह भी मत है कि देवरायसे पहले उसके भाई बुक्कराय द्वितीयने केवल दो वर्ष (सन् १४०४ से १४०६ ई०) राज्य किया था।[3] उसके पश्चात् देवराय प्रथमने सन् १४०६ ई० से सन् १४२२ ई० तक शासन किया था। बुक्कराय द्वितीयने मूडविदुरीकी 'गुरुगल-बस्ति' नामक जैन मंदिरके लिये दान दिया था।[4] सेनापति इरुगप्पने चिंगलपेटके जिलेके एक जैन मंदिरके लिये बुक्करायके पुण्य निमित्त दान दिया था; जब कि वह राजकुमार थे।[5] सारांशतः बुक्क द्वितीय भी जैनोंपर सदय हुये थे।

देवरायका दैनिक जीवन।

बुक्करायके अल्पकालीन शासनके पश्चात् देवराय प्रथम शासनाधिकारी हुये। वह रंगीली तबियतका शासक था। विषयवासनामें

१-जैशिसं०, भूमिका पृ० १०३। २-विह०, पृ० ४६ ३-मकु० व केम्ब्रिज हिस्ट्री० भा० ३ पृ० ८९। ४-जैकस०, पृ० ४५. ५-मेजै०, पृ० ३०५।

रहता था। एक स्वर्णकारकी लड़कीपर वह मोहित हो गया और उससे विवाह करना चाहा, परन्तु वह लड़की इस कार्यसे सहमत न थी और भागकर बहमनी राज्यमें चली गई। इसी बहानेसे बहमनी नरेश फिरोजशाहने मुद्गल पर चढ़ाई कर दी। साथ ही अहमदखांने द्वाबपर अधिकार कर लिया। देवरायने परास्त होकर यवनोंसे सन्धि करली, जिसमें विजयनगर राज्यकी हानि विशेष हुई। बंकापुरके जिले यवनोंको देदिये गये और असंख्य द्रव्य-हीरा, मोती सुलतानको देने पड़े। मुसलमानोंने दो हजार नाचनेवाले लौंडे और युवतियां भी मांगीं एवं देवरायकी पुत्रीसे विवाह करके ही वह संतोषित हुआ कहा जाता है। इस सब दुर्दशाका मूल कारण देवरायका रागरंगमें फंसा रहना था। किन्तु उसके मन्त्री लक्ष्मीधरने उसका बहुत कुछ सुधार किया और राजव्यवस्थाको सुचारु रीतिसे चालू रक्खा था। दूसरे राजमंत्री इरुगप्पने भी राज्यकी दशा सुधारनेमें पर्याप्त भाग लिया था।

देवराय व जैनधर्म।

इरुगप्पके कारण ही देवराय द्वारा मन्दिरों और विद्वानोंको भूमिदानमें दीगई थी।[1] श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४२८ (३३७) शक सं० १३३२ से स्पष्ट है कि देवराय प्रथमकी भीमादेवी नामक रानी जैनधर्मानुयायीं थीं। उनके गुरु अभिनवचारुकीर्ति पंडिताचार्य थे।[2] अपने गुरुके उपदेशसे भीमादेवीने श्रवणबेल्गोलके 'मंगायी-बस्ति' नामक जैनमंदिरमें शान्तिनाथ भगवानकी प्रतिष्ठा कराई थी।[3]

१-विइ०, पृष्ठ ४८, २-मैकृ०, पृष्ठ ४४, ३-मेधिजं०, पृष्ठ ३५४.

सन् १४१२ ई० में देवरायके पुत्र राजकुमार हरिहरने विजयमंगलमुकी पार्श्वनाथवस्तिको दान दिया था।[1] उन्होंने कनकगिरिके जैन मंदिरको भी मलेयूर ग्राम भेंट किया था।[2] रानी भीमादेवीके कारण ही देवराय प्रथम जैन गुरुओंकी ओर आकृष्ट हुये थे; जिसके कारण उनका जीवन व्यवहार ही बदल गया था। जैनधर्मको उन्होंने बड़े सन्मानकी दृष्टिसे देखा था। हुम्बाकी पद्मावती-वस्तिके शिलालेखसे प्रगट है कि वर्द्धमान मुनिके प्रमुख शिष्य धर्मभूषण गुरु एक महान् व्याख्याता और मुनियों एवं राजाओं द्वारा सेव्य थे। उनके चरणकमल राजाधिराज परमेश्वर सम्राट् देवराय (प्रथम)के राजमुकुटसे प्रभायुक्त हुये थे।[3] अतः मालूम होता है कि रानी भीमादेवी और राजमंत्री इरुगपके प्रयत्नसे सम्राट् देवराय (प्रथम) का अन्तिम जीवन शांति और धर्ममय बन गया था। सन् १४२२ ई०में उनकी मृत्यु होगई थी।

विजयराय।

देवरायके पश्चात् उनके पुत्र विजयरायने कुछ काल तक शासन सूत्र संभाला था। उसने बहमनी नवाबको वार्षिक कर देना बन्द कर दिया था, जिससे चिढ़कर सन् १४२३ ई०में अहमदखांने विजयनगर पर चढ़ाई करदी थी। हिंदू सेना इसबार भी मुसलमानोंका मुकाबिला न कर सकी। हिन्दुओंकी क्षति हुई और बहुतसे हिंदू, मुसलमान बना लिये गये। इस दुर्गतिमें विजयने अहमदखांसे संधि की और पिछला सब कर अदा किया और बहुत-सा धन अहमदखांको दिया। विजयके राज्यमें प्रजा दुखी रही।[4]

१-मेजै०, पृष्ठ ३२९, २-मेजै०, पृ० ३२९, ३-मेजै०, पृ० २९९. ४-विर०, पृ० ४८-४९.

महान् शासक देवराय द्वि०।

विजयके पश्चात् उसका पुत्र देवराय द्वितीय विजयनगरके राजसिंहासनपर सन् १४२४ ई० में आरूढ़ हुआ था। देवरायने विजयनगर राज्यका गौरव और विस्तार बढ़ाया था। उसका राज्य समस्त दक्षिण भारतमें लंकाके समीपतक फैला हुआ था। उसने आरकाटका भार उसके भाईको और शेष दक्षिणका राज्यकार्य उसके मंत्री लक्ष्मणको सौंपा गया था। वह एक आदर्श शासक था। उसके शासनकालमें संगमवंशकी एवं देशकी विशेष उन्नति हुई थी। देवराय स्वयं विद्वान् थे और पंडितोंका आश्रयदाता था। प्रजाके सुख-दुखका उसे पूरा ध्यान था। उसने राज्यमें प्रचलित वैवाहिक कर बन्द कर दिया था और खेतीकी उन्नतिके लिये नेहरें खुदवाई थीं। शिक्षा प्रचारके लिये भी देवरायने दान दिये थे। उनके प्रमुख राजमंत्री इरुगप्प जैन थे और उन्होंने विजयनगर राज्यको शक्तिशाली बनानेमें पूरा भाग लिया था।

युद्ध और शासनप्रबन्ध।

देशके प्रत्येक हिन्दूको विजयनगर राज्यकी मुसलमानों द्वारा असमृद्ध पराजय खटक रही थीं—बहमनी शासकोंसे हारकर विजयनगरके राजाओंको बराबर सन्धियां करना पड़ी थीं। जनताके इस दुखको राजाने भी चीन्हा और अपनी कमजोरीको भी उन्होंने पहिचाना। राजाज्ञासे दसहजार तुर्की घुड़सवार और दोहजार धनुषधारी सेनामें भरती किये गये; जिनका काम हिन्दू सैनिकोंको धनुर्विद्याकी शिक्षा देना था। इन मुसलमानोंके संतोषके लिये देवराय अपने राजसिंहासनके समीप कुरानकी पुस्तक रखते थे। उनके लिये उन्होंने मस्जिद

भी बनवा दी थी। दोहजार मुसलमान धनुर्धारियोंने साठ हजार हिन्दू सैनिकोंको धनुषबाण चलानेमें निष्णात बनाया था। इस प्रकार देवरायने विशाल और सुदृढ़ सेना तैयार कर ली और उसे लेकर वह सन् १४४३ ई० को रायचूर द्वाबपर चढ़ गया। देवरायने मुद्गल, रायचूर और बंकापुरके प्रसिद्ध किले जीत लिये और कृष्णा नदी तक अधिकार जमा लिया। बल्कि बीजापुर और सागरतककी पृथ्वीको रौंद डाला। विजयनगरको यह जीत बहुत महंगी पड़ी—इसमें विजयनगरके कई राजकुमार काम आये और जन धनकी भी विशेष हानि हुई। इस जीतसे चिढ़कर मुसलममानी सेनाने अधिक जोर दिखाया। हठात् देवरायको मुसलमानोंसे सन्धि करना पड़ी।[1]

विदेशी यात्री।

देवरायके शासन कालमें इटलीसे निकोलो कॉन्टि (सन् १४२१) और ईरानीदूत अब्दुलरज्जाक (सन् १४४२) दो यात्री भारत आये थे और वे विजयनगरमें भी रहे थे। उन्होंने विजयनगरको किलों, मन्दिरों और सुन्दर महलोंसे सुसज्जित पाया था। भारतके समस्त नरेशोंमें देवराय सबसे अधिक शक्तिशाली थे। राजाकी हजारों रानियां थीं। निकोलो कॉन्टि तत्कालीन भारतको तीन भागोंमें बंटा हुआ बताता है अर्थात्—(१) ईरानसे सिन्धु नदी तक, (२) सिन्धु तटसे गंगा तक और (३) अवशेष भारत। अवशेष भारतको वह धनसम्पत्ति, सभ्यता और संस्कृतिमें सबसे बढ़ा चढ़ा लिखता है। भारतीयोंका दैनिक जीवन व्यवहार उसने यूरुपवासियों जैसा ही उन्नत और उत्कृष्ट

१—विइ०, पृ० ५०-५१।

पाया था। उनके विशाल भवन सुन्दर सिंहासनों, कुर्सियों और मेजोंसे सुसज्जित और धनसम्पत्तिसे भरपूर थे। मानव स्वभाव अत्यंत दयालु था। अब्दुलरज्जाकको ईरानके शाह रुखने अपना दूत बनाकर भेजा था।[1] इससे देवरायकी शक्ति और महत्ताका बोध होता है। निस्सन्देह वह एक महान् शासक था।

देवराय द्वि० व जैनधर्म।

देवराय द्वितीयका प्रताप और गौरव उसके धार्मिक कार्योंसे द्विगुणित होगया था। उसने ब्राह्मणों और जैनोंको समानरूपमें दान दिये थे। ब्राह्मणोंके लिये यद्यपि वह कल्पवृक्ष तुल्य कहा गया है, परन्तु जैनोंको अपनानेमें वह किसी प्रकार पीछे नहीं रहा था। देवरायने अपने नाम और पुण्यको यावद्चन्द्र दिवाकर स्थिर रखनेके लिये पान सुपारी बाजारमें राजमहलके पास अर्हत् पार्श्वका एक उत्तुंग जिनालय पाषाणका निर्माण कराया था और वहां उत्सव मनाया था।[2] उन्होंने हट्टांडिके चन्द्रनाथ देवालय, मुडबिद्रीके त्रिभुवन तिलक चैत्यालय, वारंगके नेमिनाथ जिनालय आदि कई जिन मंदिरोंको भूमि दान दिया था।[3] जैन विद्वान् मल्लिनाथसूरी कोलाचलने देवरायका उल्लेख 'सम्राट् वीर प्रताप प्रौढ़ देवराय' रूपमें किया था। देवरायने इन जैन विद्वान्को अपने न्याय विभागमें उच्चपदपर नियुक्त किया था। देवरायकी

१–मेजर० (Myjor), पृष्ठ ३–२६ व भा० २ पृ० ६–२४।

2–' Devaraya II, The tree of heaven to the Brahmanas yet patronised Jainas.........in order that his fame and merit might last as long as the moon & stars caused a temple of stone to be built to the Arhat Parsva."—S. R. Sharma, जैकक०, पृष्ठ ४६। ३–मैसिभा०, भा० २ पृ० १३४,

आज्ञानुसार उन्होंने 'वैश्यवंशसुधार्णव' नामक ग्रन्थ रचा था, जिसमें वैश्य, नगर-वणिक, वणिज, वाणि, व्यापारी, अरुज, तृतीयजाति, स्वजातीयभेदज, उत्तरापथनगरेश्वर, देवतोपासक आदि शब्दोंका विस्तृत विवेचन करके यह सिद्ध किया था कि वे लोग कोमटिसे भिन्न हैं। काञ्चीके एक शिलालेखमें इन शब्दोंका प्रयोग हुआ था। विजयनगरकी वैभव वार्ता और व्यापारिक समृद्धिकी बातें सुनकर बहुतसे व्यापारी उत्तर भारतसे वहां पहुंचे थे। उत्तर और दक्षिणके व्यापारियोंमें जब मतभेद उपस्थित हुआ, तब देवरायने उसका निर्णय करनेके लिये मल्लिनाथसूरिको नियुक्त किया था। और उन्होंने अन्वेषण करके उपर्युक्त पुस्तक लिखी थी।[१] समाज शास्त्रके इतिहासके लिए यह पुस्तक महत्वपूर्ण है। विजयनगर सम्राट्ने देशको हरप्रकार उन्नत बनानेमें जैन अजैन सब ही विद्वानोंका सहयोग प्राप्त किया था। इससे स्पष्ट है कि देवराय प्रजाके सुख दुखका पूरा ध्यान रखता था। विदेशोंसे व्यापार करनेकी सुविधायें उसने व्यापारियोंको दी थीं। अरब और ईरानके अतिरिक्त पुर्तगालसे भी व्यापार सम्बंध स्थापित किये थे। सारांशतः देवरायके शासनकालमें देश विशेष समृद्धिशाली बना था।[२] सन् १४४६ ई०में देवरायकी मृत्यु क्या हुई, संगमवंशका सूर्य ही अस्त होगया। उसके पश्चात् संगमवंशकी अवनति प्रारम्भ होगई।

मल्लिकार्जुन व विरुपाक्ष।

देवरायके पश्चात् उसके दोनों पुत्रों अर्थात् (१) मल्लिकार्जुन और (२) विरुपाक्षने सन् १४४९ ई०से सन् १४७० ई० तक

१-मेजे०, पृ०३०७-३०९। २-मैमोयर्स ऑफ दी कॉमो सोसाइटी, भा०१ खंड २ पृ०६१-६२.

क्रमशः राज्य किया था। इनके शासनकालमें विजयनगर साम्राज्यको शक्तिहीन समझकर चारों ओर शत्रुओंने आक्रमण करना प्रारंभ कर दिया था; किन्तु बहमनीके नवाब और उड़ीसाके राजाको मल्लिकार्जुनने परास्त किया था। फिरिश्ता इस घटनाको सुल्तान अलाउद्दीनकी मृत्युके पश्चात् (सन् १४५८) के बाद हुई बताता है। किन्तु ओड़ीसाके राजाको यह पराजय चोट गई। उसने विजयनगर राज्यकी स्थापनाका उद्देश्य नहीं पहिचाना—हिन्दू शासक अपने स्वार्थ और व्यक्तिगत मानापमानमें बह गये। ओड़ीसाका राजा पीपलेश्वर विजयनगरके विरुद्ध बहमनीके सुल्तानसे जामिला और दोनोंने मिल कर तैलिंगाना पर आक्रमण कर दिया। कपिलेश्वरने कर्णाटकको जीतकर काञ्ची तक अपना अधिकार जमालिया। पांड्यराजाने भी यह अच्छा अवसर समझा-उसने भी सन् १४६९ ई० में विजयनगर पर आक्रमण किया। प्रायः सीमाके सभी प्रान्त साम्राज्यसे पृथक हो स्वतंत्र हो गये। हिन्दूराष्ट्रका प्रश्न खटाईमें पड़ गया। वास्तवमें संगमनरेशोंने राज्यधिकारी होने पर यह ध्यान ही भूला दिया कि उनको सब ही हिन्दू राज्यको संगठित रखकर मुसलमानोंसे हिन्दूराष्ट्रकी रक्षा करना है। विजयनगरकी शक्ति क्षीण हुई जानकर बहमनी सुलतानोंने उस पर आक्रमणोंका तांता बांध दिया। विजयनगरसे राजधानी वेनुगोंडा हटादी गई थी। मल्लिकार्जुन प्रायः १४६६ ई० तक शासन करता रहा; परंतु विजयनगरको खोई हुई शक्तिको वह वापस न लासका। प्रान्तोंके सब ही नायक स्वतंत्र रूपमें दान देने लगे थे अर्थात् केन्द्रीय शासनकी उन्होंने परवाह नहीं की थी। मल्लिकार्जुनके पश्चात् विरूपाक्ष

नाममात्रके लिये राजा हुआ। सन् १४६९से १४८१ तक लगातार शत्रुओंके आक्रमणोंसे विजयनगर राज्य छिन्न भिन्न हो गया। प्रान्तपति नरसिंह सालुवका प्रभुत्व सारे साम्राज्यमें फैल गया।

नरसिंह सम्राट्की सहायताके लिये तिम्मको भेजा था। परन्तु संगमवंशका सूर्य राहु ग्रस्त हो चुका था। अतः सन् १४८६ ई०में विरुपाक्षके साथ ही संगमवंशका अन्त होगया था। इन दोनों अंतिम विजयनगर राजाओंके शासनकालमें भी जैनधर्म जनतामें पूर्ववत् प्रचलित रहा। विरुपाक्षके राजदरबारमें जैनाचार्य विशालकीर्तिने परवादियोंको परास्त करके जयपत्र प्राप्त किया था।

संगम–राज–वंश–वृक्ष।

१–विंह०, पृष्ठ ५४–५६।

(२)
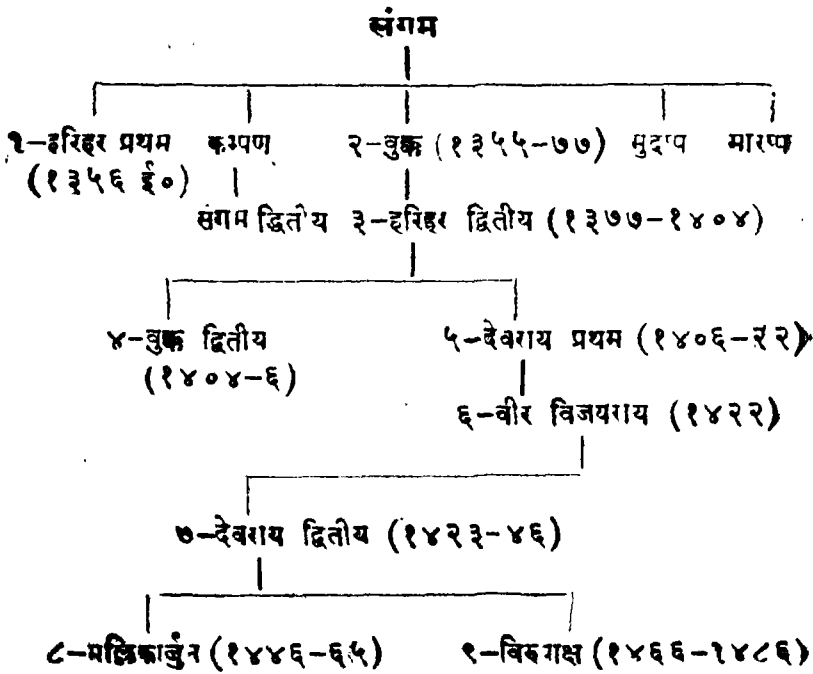
विजयनगरके सालुव एवं अन्य राजवंश
और
उनके शासनकालमें जैनधर्म।

संगम व सालुव राजनरेश।

विजयनगरमें संगम-वंशके राजाओंके पश्चात् सालुव-वंशके राजाओंने शासन किया था। संगमवंशकी ओरसे इस वंशके राजाओंको दक्षिणका शासन-प्रबन्ध सौंपा गया था। प्रारम्भसे ही संगमवंशका इन राजाओंसे घनिष्ट सम्बन्ध था। यहांतक कि सम्राट् देवराय द्वि०ने अपनी बहन हिरियादेवीका विवाह सालुव-नरेश तिप्पसे किया था और टेकल नामक प्रदेश उन्हें प्रदान किया था। संगमवंशके अन्तिम दो राजाओंके समयमें सालुवनरेश नरसिंह विजयनगर राज्यके दक्षिण भागमें प्रान्तपति थे। वह चन्द्रगिरिसे अपना शासन करते थे। मल्लिकार्जुन और विरुपाक्षकी शक्ति क्षीण हुई जानकर प्रान्तपतियोंमें सर्व प्रथम नरसिंह सालुवने राज्य प्रबन्ध अपने हाथमें लेलिया था। इस प्रकार सालुववंशका राज्य सन् १४८६ से आरम्भ हुआ।[1]

सालुवनरेश व जैनधर्म।

सालुवनरेश मूलतः संगीतपुरके शासनाधिकारी थे और जैनधर्मको उन्नत बनानेके लिये वे हमेशा कटिबद्ध रहे।[2] उन राजाओंके ही कुटुंबी देवरायके बहनोई तिप्प सालुव थे। मालूम ऐसा होता है

१–विइ०, पृ० ५९–६० व संजैइ०, भा० ३ खंड २ पृष्ठ १५९.
२–संजैइ०, भा० ३ खंड २ पृ० १५९.

कि विजयनगरके संगम राज्यमें तिप्पके भाई गुण्डको दक्षिण भागका शासनभार सौंपा गया तभीसे वह चन्द्रगिरिमें रहकर शासन करते थे। नरसिंह एक प्रतापी नरेश था। उसने ओड़ीसाके राजा पुरुषोत्तम और मुसलमानोंके आक्रमणोंको विफल किया था। किन्तु वह सब ही प्रान्तीय नायकोंको अपने आधीन नहीं रख सका था। उसने 'राजाधिराज परमेश्वर' की उपाधि धारण की थी।

इम्मादी नरसिंह।

सन् १४९३ ई०में उसका लड़का इम्मादि नरसिंह शासनाधिकारी हुआ था और सन् १५०२ ई० तक वह शासन करता रहा था। सालुव नरसिंहने सेनापति नरेश नायकको उसका संरक्षक नियुक्त किया था; इसलिये शासनमें उसकी ही प्रधानता थी। नरेशने कावेरीके सुदूर दक्षिण प्रांतको जीतकर वहां विजयस्तंभ बनवाया था। मुसलमानोंको भी उसने परास्त किया था।[1]

तुलुव नरेश वीर नरसिंह।

नरेश तुलुववंशका नररत्न था। उसने गजपतिराय और मुसलमान सुल्तानको परास्त किया था। उसने सन् १५०५ ई० तक विजयनगरमें शासन किया था। उसके पश्चात् तुलुव वंशका दूसरा शासक वीर नरसिंह सन् १५०६ में शासनाधिकारी हुआ। उसकी पदवी 'श्रीमान् महाराजाधिराज-परमेश्वर-भुजबलप्रताप-नरसिंह महाराज' उसकी महानताकी सूचक है। सालुव तिम्म उसका योग्य मंत्री था। नरसिंहके भाई कृष्णदेवरायने मुसलमानोंके आक्रमणोंसे विजयनगरकी रक्षा की थी और उसे विशाक साम्राज्यमें पुनः परिवर्तित किया था।

१-विह०, पृ० ६१-६४. २-वही०, पृ० ६५-६६.

कृष्णदेवराय।

सन् १५०९ ई० में वीर नरसिंहके पश्चात् श्री कृष्णदेवरायने विजयनगरका शासन भार अपने कुशलहाथोंमें लिया था। 'हिन्दू और मुसलमान बादशाहोंमें इसकी तुलना नहीं की जा सकती। विदेशियोंने कृष्णदेवकी भूरी भूरी प्रशंसा की है।' पेईने उसे अतीव सुन्दर लिखा था। यद्यपि कृष्णदेवराय स्वयं वैष्णवमतका अनुयायी था, पर उसने शैवों और जैनोंको भी दान दिये थे। वह संस्कृत और तेलुगु भाषाओंका विद्वान और कवि था। उसके दरबारमें अनेक कवि रहते थे, जो 'अष्टदिग्गज' कहे गये हैं। कृष्णदेवरायका प्रताप विक्रमादित्यके समतुल्य माना जाता था। वह राजा भोजके नामसे अपनी विद्यारसिकता, न्याय-परायणता और व्यवहारकुशलताके कारण प्रसिद्ध था। वह २१ वर्षकी युवा अवस्थामें राजसिंहासन पर बैठा था; परन्तु अपने बुद्धिकौशलसे राजव्यवस्थाको सुदृढ़ बनानेमें वह सफल हुआ था। पहले उसने आर्थिक सुधार किया; तत्पश्चात् उसने संगठन करके सेनाको बलवान और युद्धकुशल बनाया। सालुव तिम्मने कृष्णदेवकी विशेष सहायताकी थी। उसने दस हजार हाथियों, चौबीस हजार घुड़सवारों और एक लाख प्यादोंकी शक्तिशाली सेना तैयार की थी। इस विशाल सेनाको लेकर उसने इकेरी, मदुरा आदि प्रान्तोंके शासकोंको परास्त करके उन्हें पूर्ववत् कर देनेके लिये बाध्य किया। इस प्रकार केन्द्रीय शक्तिको ठीक करके वह वास्तविक सम्राट् बना। सन् १५१३ ई० में उसने ओड़ीसाके राजा गजपति प्रताप पर आक्रमण किया और उसे अपने आधीन कर लिया—उसने कर देना स्वीकार किया। सन् १५१५

ई० में कृष्णदेवने तैलिंगानाको जीत लिया था। गजपतिने कृष्णदेवसे सन्धि की और अपनी राजकुमारी भी उसको व्याह दी थी। गोविंद साळुव तैलिंगानाका शासक नियुक्त किया गया था। इसके पश्चात् सन् १५२० ई० में कृष्णदेवने एक लाख सेना लेकर आदिलशाह पर आक्रमण किया और उनके रायचूर, मुद्गल, ओदनी आदि दुर्गोको छीन लिया। परास्त हुये मुसलमानोंने कृष्णदेवरायके जीवनकालमें विजयनगर पर आक्रमण करनेका साहस नहीं किया। रायचूरके युद्धमें मुसलमान सेनापति सलावतखां पकड़ा गया था और बहुतसी सामिग्री हिन्दुओंके हाथ लगी थी। तीसरी युद्धयात्रामें कृष्णदेवने रामेश्वरम् तक सुदूर दक्षिण प्रदेशको जीत लिया था। रामेश्वरम्‌में उसने विजयोत्सव मनाया था। उसने सन् १५३० ई० तक सफल शासन किया था। पुर्तगालके गवर्नर अलबुर्कसे व्यापारिक सन्धि करके उनको पश्चिमी किनारे पर किला बनानेकी आज्ञा दी थी। इससे विजयनगरका व्यापार बहुत बढ़ गया था।

कृष्णदेवराय और जैनधर्म।

कृष्णदेवरायने भी संगमवंशके नरेशोंके पदचिन्हों पर चलकर प्रत्येक धर्म और पंथका आदर किया था। उनके विशाल हृदयमें प्रजाके प्रत्येक वर्गके लिये स्थान था। जैनोंको उन्होंने अपने विशद साम्राज्यके दोनों सुदूरवर्ती छोरोंपर दान दिया था। चिंगलपेट जिलाके कांजीवरम् तालुकके त्रिपरुत्तिकुण्रु नामक स्थानमें त्रिलोक्यनाथ-बस्तिको उन्होंने सन् १५१६ और १५१९ ई० में दो ग्राम

१-विर०, पृष्ठ ६७-७०.

भेंट किये थे। सन् १५२८ ई० में उन्होंने बिलारी जिलेके कुडलु तालुकेके चिप्पगिरि नामक स्थानके जैन मंदिरको भी दान दिया था। उस दानपत्रको उन्होंने वेङ्कटरमण मंदिरकी दीवालोंपर भी अङ्कित करा दिया था।[१] उन्होंने बारकुरके जिनमंदिरको भी दान दिया था।×

वादीन्द्र विद्यानन्द।

जिस प्रकार उस समयके राजाओंमें सम्राट् कृष्णदेवराय महानु प्रतापी नरेन्द्र थे, उसी प्रकार उस समयके योगियोंमें वादी विद्यानन्द सर्वोपरि थे। वह कृष्णदेवरायके राजदरबारमें आये थे और परवादियोंको अपने अकाट्य तर्क और तीक्ष्ण बुद्धिसे परास्त किया था। सम्राट्ने इस जैन योगिराजका समुचित सम्मान और अभिषेक किया था। इसप्रकार एकवार फिर जैन श्रमणोंकी प्रतिभा राजदरबारमें चमकी थी।[२]

सम्राट् अच्युत।

किन्तु कृष्णदेवरायकी मृत्युके पश्चात् विजयनगर साम्राज्यकी समृद्धिको फिर काठ मार गया। मुसलमानोंने इस समय पुनः आक्रमण करना प्रारंभ किया। इस संकटाकुल कालमें कृष्णदेवके भाई अच्युतने राज्यका कार्यभार संभाला था परन्तु वह मुसलमानोंके समक्ष निर्बल प्रमाणित हुआ। मुसलमानोंने रायचूर व मुद्गलके प्रान्तोंको एकबार फिर अपने अधिकारमें कर लिया। अच्युतने सुल्तानको कर देना

१–मेजै०, पृष्ठ ३०१. × जैसाइ० (MSS) पृ० १०८.
२–मेजै०, पृ० ३७३–३७४ व दक्षिण०

स्वीकार किया । उसके बहनोई तिरुमल उसके मंत्री थे । किन्तु वह भी केन्द्रीय शक्तिको स्थिर न रख सके । प्राय: सभी प्रान्तोंके शासक स्वतंत्र हो गये । इस विकट परिस्थितिमें अच्युतको शौर्य जागृत हुआ । अच्युतने सामन्तोंको दबानेके लिये उन पर चढ़ाई कर दी और सबको पूर्ववत् अपने आधीन कर लिया । किन्तु हिन्दू संगठनका ध्यान न राजाको रहा और न सामंतोंको । वे रागरंगमें फस गये । अच्युत सन् १५४२ ई० में स्वर्गवासी हुआ।[1] वह परम वैष्णव शासक था । जैनधर्म इनके राज्यमें भी वादी विद्यानंद द्वारा उत्कर्षको प्राप्त हुआ था।[2]

अच्युत और सदाशिव ।

यह हम ऊपर बता चुके हैं कि अच्युतके बहनोई तिम्मके हाथमें राज्यका शासनसूत्र था । अच्युतके पश्चात् उसकी रानी वरद-देवी अपने पुत्र वेङ्कटको राजसिंहासन पर बैठाना चाहती थी और उसका हक भी था, किन्तु तिम्म स्वयं राज्याधिकारी बनना चाहता था । अपने स्वार्थके समक्ष हिन्दूशासक हिन्दूधर्म और हिन्दू हितोंको भूल गये । हठात् रानी वरददेवीने बीजापुरके सुल्तान आदिलशाहके पास राखी भेज दी और वेङ्कटकी रक्षा करनेके लिये कहला भेजा । आदिलशाह सदलबल विजयनगर पर चढ़ आया—प्रजा भी उसके साथ हो गई; किन्तु तिम्मने उसे पचास लाख रुपये और सैंकड़ों हाथियोंकी घूस देकर शान्त कर दिया—आदिलशाह वापस बीजापुर लौट गया । अच्युतने वेङ्कटकी हत्या कराके अपना प्रभाव जमाया । उसका यह अत्याचार रामरायको अखरा ! उसने तिम्मको गद्दीसे हटाकर अच्युतके

१–विइ०, पृ० ७१-७२. २–मेजै०, पृ० ३२३.

बालीने सदाशिवको राजसिंहासनपर बैठाया! रामराय कृष्णदेवका जमाता था। इस प्रकार रामरायके संरक्षणसे तुलुववंश नष्ट होनेसे बच गया।

सदाशिवका नाममात्र शासन।

जिस समय सदाशिवका राजतिलक हुआ उस समय वह तेरह वर्षका शक्तिरहित बालक था। उसके बहनोई रामरायने उसकी बराबर रक्षा की और उसके लिये कई किले जीते थे। शासन संचालनकी मूलशक्ति रामरायके हाथोंमें ही थी। सन् १५५२ ई०में जब सदाशिवने हाथ पांव फैलाये तो रामरायने उसे कैद कर लिया और सालमें केवल एकबार उसके दर्शन प्रजाको कराने लगा। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि रामराय स्वयं सदाशिवके नामसे शासन करता था—सदाशिव उसके हाथोंमें कठपुतली था। इस प्रकार सन् १५७० ई० तक सदाशिव नाम मात्रका शासक रहा था। कृष्णदेवके पश्चात् जैनधर्मको राजाश्रय नहीं मिला; यद्यपि प्रजामें वह पूर्ववत् प्रचलित रहा!

रामराय (आरविदु वंश)।

रामराय आरविदु वंशका प्रथम राजा था, जिसने विजयनगर पर शासन किया था। प्रजाको संतुष्ट रखनेके लिये उसने सदाशिवको राजा बनाये रक्खा और फिर जब रामराय राजा बना तो किसीने उसका विरोध नहीं किया। इसप्रकार रामरायसे विजयनगरके शासकोंका चौथा राजवंश प्रारम्भ हुआ। रामराय एक प्रतापी राजा था—लंकाके राजाने भी उसकी आधीनता स्वीकारी थी। पुर्तगाली लोगोंको भी उसने

१–विइ०, पृष्ठ ७४–७५. २–विइ०, पृष्ठ ७६.

सहायता दी और व्यापारको बढ़ाया था। पुर्तगालियोंकी जलसेनाके आक्रमणको विजयनगरकी जलसेनाके नायक तिमोजाने विफल किया था। इसके पश्चात् पुर्तगालियोंने सन्धिकी थी और विजयनगरके राजदूतका अभूतपूर्व स्वागत गोआमें किया था। मुसलमानोंको भी उसने बुरी तरह हराया था। उनकी मस्जिदोंमें मूर्तियां स्थापित करके उनको मंदिर बना दिया था। अहमदनगर बिलकुल नष्टकर दिया गया था। इसपर सब मुसलमान शासक संगठित होकर सन् १५६५ ई०में विजयनगरपर चढ़ आये। रामरायके मुसलमान सेनापतियोंने उसे धोखा दिया और तालिकोटके युद्धमें वीर रामराय खेत रहा। मुसलमानोंने बुरी तरह लूटा, मुसलमान ५५० हाथियोंपर लादकर विजयनगरसे अतुल धनराशि लेगये। मुसलमानोंने हिंदूओंको कत्ल किया और मंदिरों तथा राजमहलोंको नष्ट कर दिया। छै महीने तक मुसलमान सेना विजयनगरमें पड़ी हुई लूटमार करती रही। वैसा अत्याचार शायद ही कभी कहीं किया गया हो।[1]

सार्वभौमिक पतन।

इस भयंकर पराजयका प्रभाव यह हुआ कि इसके पश्चात् दक्षिणका कोई भी हिन्दू शासक पुनः एक विशाल साम्राज्यके निर्माण करनेका साहस न कर सका। हिंदू साम्राज्यका एकदम पतन हुआ। परिणामतः ब्राह्मण और जैन संस्कृतियोंका ह्रास हुआ। साहित्य, कला और व्यापारकी भी क्षति हुई एवं पुर्तगाली आदि विदेशी भी

१–विह० पृ० ७९–८४.

ठौर ठौर पर अपना अधिकार जमा बैठे ! रामरायके पश्चात् तिरुमल, श्रीरंग प्रथम, श्रीवेङ्कटपतिदेव और श्रीरंग द्वि० नामक राजाओंने विजयनगरपर शासन किया अवश्य; परन्तु वे विजयनगरके संस्थापन ध्येयकी रक्षा करनेमें असमर्थ रहे। श्रीवेङ्कटकी उदारतासे ईसाइयोंने भी यहां अपने पैर जमा लिये और बहुतसे हिन्दूओंको ईसाई बना लिया। प्रजामें असंतोष बढ़ गया। सब ही सामन्त स्वतन्त्र होगये। विजयनगरके राजाओंका कोई प्रभाव ही न रहा ! शाहजी और मीरजुमलाने अन्तमें उनकी राजधानी पर भी अधिकार जमाया और विजयनगर साम्राज्यका अन्त कर दिया ! उसके स्थान पर मराठा राज्यकी स्थापना हुई !
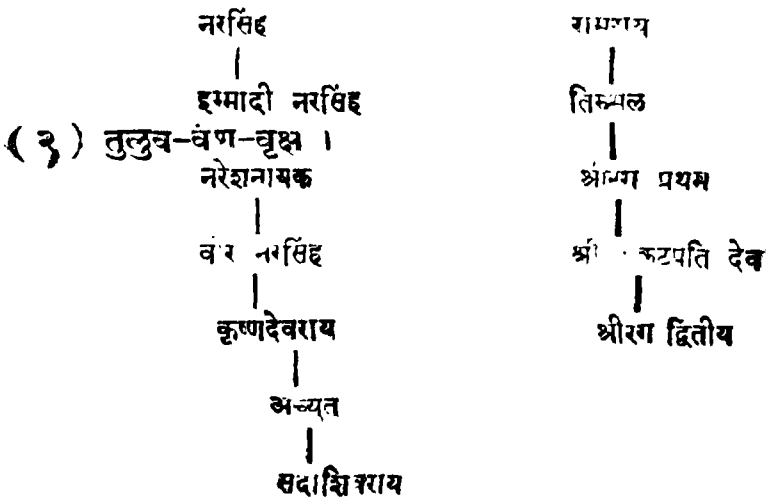
(३)

विजयनगरकी शासन-व्यवस्था तथा उनके सामन्तों और राजकर्मचारियोंमें जैनधर्म ।

हिंदू संगठन ।

हरिहरने जब विजयनगर राज्यकी स्थापनाकी तो उन्होंने होय्सल राजाओंका आदर्श अपने सम्मुख रक्खा था—होय्सल शासनप्रणालीका अनुकरण करके उन्होंने राजप्रबंध प्रारम्भ किया था। उसी प्रणालीके अनुरूप पश्चात्‌के सब ही विजयनगर राजाओंने अपने शासनको चलाया था। अलबत्ता वे लोग हरिहर बुक्क आदि महान् नरेशोंकी उस आदर्श नीतिको भुला बैठे थे, जिसके कारण प्रजावर्गमें साम्प्रदायिक विद्वेषका अन्त होकर पारस्परिक संगठन द्वारा एक महान् हिन्दू राष्ट्रकी पुनः स्थापनाका सुख-स्वप्न मूर्तिमान होने जा रहा था। विजयनगरके उपरान्तकालीन राजा लोग हिन्दू राष्ट्र-निर्माणकी बात ही भूल गये थे और वे आपसमें लड़ने लगे थे। विजयनगरके पतनमें यही एक कारण मुख्य था।

सम्राट् और उसका मंत्रिमंडल ।

वैसे विजयनगर राज्यका शासन प्राचीन आर्य प्रथाके अनुसार सम्राट्के आधीन चालित हुआ था, परंतु सम्राट्को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होते हुए भी उच्छृंखलताकी आशंकाको मिटानेके लिये उनको एक मंत्रिमंडलके साथ शासन करना अनिवार्य था। सम्राट्को वैसे पूर्ण अधिकार प्राप्त थे; पर वे मंत्रिमंडलकी सम्मतिका उल्लंघन कदाचित्

ही करते थे। किन्तु यह मालूम नहीं होता कि विजयनगर साम्राज्यमें रानियोंकी स्थिति क्या थी? होयसल-रानियोंकी तरह उनको शासनाधिकार शायद नहीं मिला था—कोई भी रानी प्रान्तीय शासनकी भी अधिकारिणी नहीं थी! इतने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह शासन-नीतिसे निरीह अपरिचित रहती थी; क्योंकि कृष्णदेवरायके समयमें हम दो रानियोंको शासन-प्रबन्धमें सक्रिय भाग लेते हुये पाते हैं।[1] अब्दुलरज्जाक और निकोलो कॉन्टि नामक विदेशी यात्रियोंके वर्णनसे भी यही प्रगट होता है कि रानियां राजाके भोग-विलासकी वस्तुमात्र थीं और अपने पतिके साथ वे प्रायः सती हो जाती थीं। राजा कई २ हजार कामिनियोंसे विवाह करता था।[2] राजाकी महानताके विषयमें अब्दुलरज्जाकने लिखा है कि विजयनगरके राय (राजा) से अधिक शक्तिशाली नरेशको भारतमें ढूंढ़नेका प्रयास करना निरर्थक है। कॉन्टि लिखता है कि भारतमें सभी राजाओंमें विजयनगर नरेश विशेष शक्तिशाली हैं![3]

मंत्रिमंडलका अन्तररूप।

विजयनगरके शक्तिशाली नरेशोंके सुचारु राजप्रबंधके लिये जो मंत्रिमंडल अथवा राजसभा थी, उसमें (१) प्रधान मंत्री, (२) प्रान्तीय सुबेदार, (३) सेनापति, (४) राजगुरु, तथा (५) कविगण नियुक्त किये जाते थे। स्वयं राजा उसका प्रधान होता था। उसकी सहायताके लिये और भी छोटे छोटे कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे।

१-विर० पृष्ठ ७१। 2-Major, p 31 & Pt. II p. 6. 3-Ibid, Pt. I p. 23 & Pt. II p. 6.

इस राजसभाके सदस्योंकी नियुक्तियां प्रायः राजाकी इच्छानुसार होती थीं। राजधानीके प्रबंधके लिये नियुक्त पुलिसका उच्च अधिकारी भी इस शासन सभाका सदस्य होता था। इन सबमें प्रधान मंत्रीका पद ही महत्वपूर्ण होता था। कोषाध्यक्ष भी नियुक्त किये जाते थे, जो आय-व्ययका हिसाब रखते थे। भाट, पान लानेवाला, पंचांगकर्ता, खुदाई करनेवाला, लेख-निर्माता तथा शासनाचार्य भी महामंत्रीके आधीन होकर अपना२ कार्य करते थे। न्यायका कार्य सेनापति सुपुर्द था; परन्तु प्रधान न्यायाधीश स्वयं राजा ही था। दण्डमें जुर्माना किया जाता था अथवा दिव्य परीक्षा (Ordeal) तथा मृत्युदंड दिया जाता था। देवरायने प्रायश्चित्तका दंड भी दिया था।[1]

शासन-विभाग।

राजा शासन-सभाके अधिकारियों सहित प्रजाकी हित दृष्टिसे शासन किया करता था। प्रजाकी धार्मिक संस्कृति और बाह्य समृद्धिकी अभिवृद्धि करनेका ध्यान राजाको था। देशमें शान्तिपूर्ण सुव्यवस्था रहने पर यह अभिवृद्धि सम्भव थी। इसलिये ही शासन-प्रबन्ध चार भागोंमें बांटा गया था। (१) केन्द्रीय शासन, (२) प्रान्तीय शासन, (३) आधीनस्थ राज्य शासन, (४) ग्राम प्रबन्ध। केन्द्रीय शासन राजा और मंत्रिमण्डलके आधीन था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-वंशके लोग मंत्रीपदपर नियुक्त किये जाते थे। प्रान्तीय शासनका भार प्रान्तपति सामन्तों और नायकोंपर निर्भर था। राजकुमार और राजसम्बन्धी ही प्रायः प्रांतीय शासक नियुक्त किये जाते थे। कोई

१-वि०, पृ० १०१-१०६।

प्रांतीय शासक ऐसा भी होता था जो राजघरानेसे सम्बन्धित होते हुये भी अपनी योग्यता और विश्वासपात्रताके लिहाजसे उस पदपर नियुक्त किया जाता था। प्रांतपतियोंको अपने२ प्रांतमें स्वतंत्र शासन करनेका अधिकार था। भूमिकरका तीसरा भाग वह राजाको देते थे और राजाकी सहायताके लिये सेना भी रखते थे। यह लोकनायक अथवा महामंडलेश्वर कहलाते थे।[1]

ग्राम-व्यवस्था।

प्रांतीय नायकोंको ही यह अधिकार था कि 'नाडू' (परगना) और ग्रामोंके प्रबन्धके लिये अलग अलग अधिकारी नियुक्त करें। नाडू अधिकारी सब ही गांवोंके कार्यका निरीक्षण किया करता था। ग्राम अधिकारका पद वंश परम्परा-गत होता था। किन्तु ग्रामका प्रबन्ध 'ग्राम-पंचायत' द्वारा किया जाता था। आपसी झगड़ेको तय करना, दण्ड देना, गांवकी रक्षा करना आदि कार्य ग्राम पंचायत ही करती थी। ग्राम कर्मचारी मुख्यत: सभाग (लेखक), कायस (पुलिस) व आयगार होते थे। ग्राम-पंचायत सब बातोंका वार्षिक-विवरण शासकके पास भेजा करती थी।[2] केन्द्रिय शासनको सुदृढ़ रखनेके लिये एक यह क्रमिक राज व्यवस्था कार्यकारी थी। वैसे केन्द्रमें भी एक विशाल सेना, चतुर पुलिस और रहस्यविद् गुप्तचर रहा करते थे। सैनिकोंका वेतन नकद दिया जाता था। सेनापर होनेवाला यह सब ही व्यय दासवधुओं (रंडियों) पर लगाये गये करसे वसूल किया जाता था। सेनाके पांच विभाग (१) पैदल, (२) घुड़सवार, (३) हाथी, (४)

१-विइ०, पृ० १२९-१३०. २-वही, १३१.

धनुषधारी, (५) और तोपखाना थे। विजयनगर राज्यमें जलसेनाका भी अपना एक बेड़ा था। मुसलमान सैनिक भी सेवामें रखे जाते थे।

राज्य-कर।

राज्यकी आय साधारणतः भूमिकरसे मुख्यतः और अन्य करोंसे हुआ करती थी। धान्यका छठा भाग कर-रूपमें वसूल किया जाता था। विशेष अवस्थामें भूमिकरमें परिवर्तन भी होता था। अन्य करोंमें (१) चुंगी, (२) पशु बेचनेका कर, (३) आयकर, (४) जंगल-कर, (५) मद्य कर, (६) कारखानोंका कर, (७) विवाह-कर, आदि सम्मिलित थे। आयका तीसरा भाग राजकीय महलों तथा आरामकी सामिग्री पर खर्च किया जाता था। और आयका आधा भाग सेनाके ऊपर खर्च होजाता था।[1]

व्यापार।

अरब, ईरान, पुर्तगाल आदि देशोंसे विजयनगरके राजाओंने राजनैतिक सम्पर्क स्थापित किये थे, जिसके कारण विजयनगर राज्यका व्यापार खूब ही चमका था। अनेक भारतीय व्यापारी दूर-दूर देशोंसे व्यापार करते थे। उनके अपने जहाज थे। उनमें वे लोग सूती और रेशमी कपड़ा, ऊन, हीरा, जवाहरात, मसालेकी चीजें, तील और काफी भरकर विदेशोंको लेजाते थे। विदेशी लोग अपने देशोंका सामान लाकर विजयनगरके बड़े २ नगरोंके बाजारोंमें बेचा करते थे। अब्दुलरज्जाकने लिखा है कि विजयनगर राज्यमें तीनसौ बन्दरगाह थे, जिनमें मिश्र, रूम, सिरिया (Syria), अजरबेजन, इराक, अरब,

१-विइ०, पृ० ११६-१२५.

खुरासान आदि देशोंसे व्यापारी आते और जाते थे।[1] ओरमज (Ormaj) कालीकट, मंगलोर और खंभात उल्लेखनीय बंदरगाह थे। ओरमज समुद्रके मध्य स्थित था। अब्दुल रज्जाककी दृष्टिमें उसके समान दूसरा बंदरगाह दुनियांमें नहीं था। (Ormaj... has not its equal on the surface of the globe). कालीकटका बन्दरगाह भी ओरमजके समान सुरक्षित और बड़ा बंदरगाह था। अबीसीनिया, जिरबाद, जंजीबार और हेजाजसे जहाज यहां अधिकतर आया करते थे और यहांकी सुरक्षित स्थिति और व्यापारिक सुविधाके कारण अधिक समय तक ठहरते थे। यहां बड़े चतुर और साहसी नाविक (Sailors) रहते थे। उनके कारण समुद्रके लुटेरे कालीकटके जहाजोंको लूटनेका साहस ही नहीं करते थे।[2] निकिटिन (Nikitin) नामक यात्रीके शब्दोंमें खम्भात उस समय सारे भारतीय महासागरके जहाजोंके लिए प्रमुख बंदरगाह था और वहां प्रत्येक प्रकारकी व्यापारिक वस्तुयें तैयार कीजातीं थीं।[3] सारांशतः विजयनगर राज्यमें व्यापारकी सुव्यस्थित वृद्धिसे देश समृद्धिशाली हुआ था। यहांके लोग बहुत ही सभ्य और उच्चकोटिका जीवन व्यतीत करते थे। अथनस निकिटिन नामक (Athanasius Nikitin) यात्रीने लिखा है कि भारतमें दैनिक जीवनका व्यय अन्य देशोंकी अपेक्षा अत्यधिक था।[4] आज जिस प्रकार अमरीकाकी समृद्धिने वहांका दैनिक

1-Major, Pt. I, p. 5. २-वही, पृष्ठ १३-१७! ३-वही, भा० २ पृष्ठ १९। 4-'Living in India is very expensive'.-Major P. 25.

जीवन अधिक खर्चीला बना रक्खा है । वैसे ही भारतकी तत्कालीन समृद्धिने भारतीयोंका जीवन-व्यय अधिक खर्चीला बना दिया था । उनका रहन सहन ऊंचे दर्जेका था ।

नागरिकोंके आदर्श कार्य ।

भारतीय उस समय खूब भरेपूरे थे । राजा और प्रजा, दोनों ही आमोद-प्रमोदके साथ-साथ दान-धर्ममें भी काफी रुपया खर्चते थे । उन्होंने नयनाभिराम मंदिर और प्रासाद बनाये थे । विजयनगरकी सड़कोंपर हीरा, मोती, लाल, जवाहरात जड़कर उन्होंने अपनी समृद्धि-शालीनताका परिचय दिया था।[1] किन्तु इस धनको उन्होंने ईमानदारीसे संचित किया था । व्यापारीगण देन लेनमें सच्चाई और ईमानदारीका बर्ताव करते थे । धर्म—पुरुषार्थको आगे रखकर ही वे अर्थ पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये उद्यम करते थे । अब्दुल रज्जाकने लिखा है कि विजयनगरके बन्दरगाहोंमें रक्षा और न्यायकी ऐसी सुव्यवस्था थी कि बड़ेसे बड़े धनी व्यापारी अपना माल लानेमें हिचकते नहीं थे । कालीकटमें वे निस्संकोच अपना माल बाजारोंमें भेज देते थे । भारतीय व्यापारियोंकी ईमानदारीका उनको इतना भरोसा था कि वे हिसाब जांचने अथवा अपने मालकी खबरगिरी रखनेकी भी आवश्यकता नहीं समझते थे । चुंगीके राजकर्मचारीगण भी इतने ईमानदार थे कि वे व्यापारियोंका माल अपने सुपर्द लेकर उसकी पूरी निगरानी रखते थे—व्यापारियोंकी

१—'विचित्ररत्नरुचिरं तत्रास्ति विजयाभिधं,
नगरं सौधसंदोहदर्शिताकांडचंद्रिकं ॥२६॥
मणिकुट्टिमवीथीषु मुक्ता सैकतसेतुभिः,
दानं धुनि निरुंधाना यह क्रीडंति बालिका॥२७। —शक्षिपिति शिलालेख

तनिक भी हानि नहीं होती थी।[1] इन व्यापारियोंमें बहुतसे बड़े२ व्यापारी जैनी होते थे। जैन व्यापारियोंने देशको समृद्धिशाली बनानेमें अपने सत्साहस और सत्य धर्मका परिचय दिया था। वे अपनी व्यापारिक संस्थायें बना कर व्यापार करते थे।

धार्मिक सहिष्णुता।

विजयनगर साम्राज्यमें धार्मिक-सहिष्णुता भी एक उल्लेखनीय वस्तु थी। विदेशियों और मुसलमानों तकको अपने धर्मनियमोंको पालनेकी सुविधा प्राप्त थी, मुसलमानोंके लिये राज्यकी ओरसे मस्जिद बनानेकी सुविधा प्राप्त हुई थी।[2] मुसलमान राजकर्मचारीगण भी समुदार और हिन्दू धर्मायतनोंके प्रति सहानुभूति रखते थे। उन्होंने हिंदू मंदिरोंको दान दिये थे।[3] पारस्परिक सौहार्दका यह सुन्दर नमूना था। पुर्तगालके ईसाई पादरियोंको भी अपने मतका प्रचार करनेकी छूट थी। किन्तु इतने पर भी इन विदेशी मतोंको सफलता नहीं मिलती थी।[4] उनके प्रचारको योगिराट् विद्यानन्द सदृश महात्मा निरर्थक और निष्फल बना देते थे। वास्तवमें जनतामें वैष्णव, शैव और जैन मत इतने गहरे पैठे हुये थे कि विदेशी मतोंकी ओर वे आकृष्ट ही प्रायः नहीं होते थे। 'कालीकटमें गऊवध निषिद्ध था और कोई भी वहां गो-मांस नहीं

1-Major, Pt. I pp. 13-14. २-विइ० पृ० १६८। ३-कोलरके शिलालेख नं० १६ से स्पष्ट है कि दिलावरखां नामक मुसलमान अफसरने मुसलमान शासक सितावखांके लिये एक हिन्दू मंदिरको भूमिदान दिया था। रुस्तमजीखांने ११ जून १५५६ ई० को देवलपुरके मंदिरको दान दिया था। —(ASM., 1941, pp. 153-154). ४-विइ०, पृ० १६८.

खा सकता था'–अब्दुलरज्जाकका यह लिखना विजयनगर साम्राज्यभरसे ताल्लुक रखता है। जैनधर्मको राजाश्रय प्राप्त था। समय २ पर वह विजयनगरका राजधर्म भी रहा था। विजयनगर सम्राटोंकी उसके प्रति समुदार-दृष्टि थी।[2] उनके राजदरबारोंमें जैन आचार्यों पंडितों और कवियोंको सम्माननीय पद प्राप्त था। विजयनगर शासनके प्रारम्भमें दिग्गज वादकुशल जैनाचार्योंका प्रायः अभाव था–इसीलिये वह जैनेतर वादियोंके समकक्षमें नहीं टिक पाते थे; किन्तु वादी विद्यानन्दने इस कमीको पूरा करके जैनधर्मकी अपूर्व प्रभावना की थी।[3]

समाज व्यवस्था ।

विजयनगर साम्राज्यमें समाज व्यवस्था अपने प्राचीन रूपमें प्रचलित थी। मुसलमानों और ईसाइयोंके प्रचारको लक्ष्य करके वर्णाश्रम धर्मके पालनेमें कट्टरता बरती जाती थी। विजयनगर राजाओंके विरुदोंमें 'सर्ववर्णाश्रमाचार–प्रतिपालनतत्पर:' अथवा 'वर्णाश्रम-धर्मपालिता' इस बातके द्योतक हैं कि राजालोग वर्णाश्रम-धर्मकी रक्षामें तत्पर थे। शङ्कराचार्यजीके समयसे ही वर्णाश्रमी पौराणिक हिन्दूधर्मका प्रचार बढ़ रहा था; किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

१-"In this harbour one may find everything that can be desired. One thing alone is forbidden namely to kill a cow or to eat its flesh: whosoever should be discovered slaughtering or eating one of these animals, would be immediately punished with death."—Major, I. p. 18. २–विह०, पृ० १६६–१६७.

३–शृंगेरीमठके वैष्णवगुरु भारतीतीर्थके लिए हरिहर द्वि० (१३४६ ई०) के दानपत्रमें 'क्षपणक–कर्णाटि तूर्ण आचूणायन्त' [illegible] गया है। (ASM. 1933, p. 219)

शूद्रोंके अतिरिक्त और भी जातियां उत्पन्न हो चली थीं। जैनोंमें यह वर्णाश्रमकी कट्टरता अभी पूर्ण रूपमें प्रविष्ट नहीं हुई थी, उनमें जैनाचार्य और कुलकी मान्यता पूर्ववत् प्रचलित थी। उच्च वर्णके जैनी परस्पर विवाह सम्बंध करते थे। उनमें भी सेठी बाणिअनेट, नानादेशी, अमरावतीकोटे, तंदेयरकुल, कडितलेगोत्र आदि उपजातियोंका बनना शुरू हुआ था।

स्त्री समाज।

समाजमें स्त्रियोंका सम्मानीय स्थान था। बालक-बालिकाओंको समानरूपमें शिक्षा—दीक्षा दी जाती थी। कन्याओंको संगीत, नृत्य, चित्रकारी आदि ललित कलायें विशेष रूपसे सिखाई जाती थीं। स्त्रियोंका पतिके साथ युद्ध, यात्रा और वणिजमें जाकर भाग लेनेके उल्लेखोंसे स्पष्ट है उस समय स्त्रियोंमें परदेका रिवाज नहीं था।[१] विदेशी यात्री भी यही लिख गये हैं १+ दक्षिणमें परदेकी प्रथा आज भी नहीं है। किन्तु उस समय बहु विवाह प्रथाका बहुप्रचार था। सर्वसाधारण लोग भी अनेक विवाह करते थे।[२] दहेजमें गांव-तक दिये जाते थे। शूद्र अपनी कन्याओंको बेचते भी थे। इन समाज-नियमोंका पालन न करनेपर लोग जातिबहिष्कृत कर दिये जाते थे। इस प्रकार समाजमें वैवाहिक प्रथा कठोर और बुराईसे खाली नहीं थी। स्त्रियोंमें पतिके साथ जल मरनेकी नृशंस सती-प्रथा प्रचलित थी।[३]

१–विइ०, पृ० २००–२०१ १+Not did they try to hide their women.–Major, p. 14 २–Major, II. p. 23 व विइ० पृ० २०१। ३–विइ० पृ० २०२–२०३ व Major, II. P. 6.

जैन स्त्रियोंमें भी कोई २ इस लोक प्रथाका अंध-अनुकरण करती थीं।[1] राजमहलों और वैष्णव मंदिरोंमें संगीत और नृत्यके लिये गणिकायें भी होती थीं।[2] जैन महिलाओंको उनकी अन्य बहिनोंकी अपेक्षा अधिक स्वाधीनता प्राप्त थी। वह धर्मकार्योंको करनेके लिये स्वाधीन थी। अनेक जैन महिलायें आर्यिकायें (साध्वी) होकर लोक-कल्याणमें निरत रहती थीं। वे स्वतंत्र रूपमें दान भी देती थीं और अपने धर्मगुरुओंसे शिक्षा भी लेतीं थीं। दायभागमें भी उनको अधिकार प्राप्त था। उनमें अनेक कवियत्रीं और पंडितायें भी थीं। उनके सौन्दर्यकी प्रशंसा विदेशियोंने की थी।[3] वे स्वस्थ्य सुन्दरियां होतीं थीं।

जैन संघ व्यवस्था।

दक्षिण भारतके जैनियोंमें प्राचीन संघ व्यवस्था अब भी मौजूद थी। मुनि और आर्यिका संघके साथ श्रावक संघ भी मौजूद था। आर्यिकायें अपना संघ अलग बनाकर नहीं रहतीं थीं; बल्कि वे मुनि संघके आचार्योंकी शिष्या कही गई हैं। इसी तरह श्रावक-श्राविका भी अपने गुरुके संघमें सम्मिलित होते थे। मुनि संघ कई अन्तर-भेदोंमें बंटा हुआ था। शिलालेखोंमें मूल संघ, सरस्वती गच्छ,

---

१-स्तवनिधिके लेख नं० ५४ में लिखा है कि कमलाक्षी महालक्ष्मी अपने हृदयमें जिनेन्द्र भगवान, निर्ग्रन्थ गुरु, और अपने प्यारे पति हरियनन्दनका ध्यान रखते हुए साहसपूर्वक अग्निमें बैठी और सती होगई ASM, 1942, P. 185. २-विर०, पृ० २०२। ३-बेलौर (Belour) में पहुंचने पर अब्दुलरज्जाकने वहांकी स्त्रियोंके सौन्दर्यको अप्सराओं जैसा पाया। ("Women reminded one of the beauty of Hauris." —Major, I, p. 20).

कोण्डकुन्दान्वयके अतिरिक्त मूल संघ-काणूरगण-पुस्तक गच्छ[1]; मूल संघ देशीयगण-पुस्तक गच्छ[2]; मूल संघ-बलात्कारगण[3]; द्राविड़ान्वय[4]; यापनिका-संघ[5]; इंगलेश्वर संघ[6]; मूल संघ-सूरस्तगण-चित्रकूटान्वय[7]; श्रीमैणदान्वय-देशीयगण[8] इत्यादि संघों और गणोंका पता चलता है। यह नाम भी प्रायः क्षेत्रकी अपेक्षासे रक्खे गए हों। काणूर, देशी, द्राविड़, चित्रकूट इंगलेश्वर आदि नाम क्षेत्रोंके ही द्योतक हैं। जैनमठ बेल्लूरके ताम्रपत्र नं० ६२ से स्पष्ट है कि सन् १६८० के पहलेसे दक्षिण भारतमें वैष्णव मठोंकी तरह जैन मठोंकी स्थापना हो गई थी। दिल्ली, कोल्हापुर, जिनकांची और पेनुगोंडेमें जैन भट्टारकोंकी गाद्दियां थीं। यह सब भट्टारक लक्ष्मीसेन कहलाते थे और वस्त्र पहनते थे। (ASM., 1939, p. 190)

जैन मुनियोंका चारित्र।

यद्यपि दि० जैन मुनिगण अनेक संघों और गच्छोंमें बंटे हुये थे; परन्तु उनके आचार-विचार प्रायः एक समान थे। वे सब ही जैनधर्मकी प्रभावनामें दत्तचित्त थे। चूंकि मंदिरोंकी व्यवस्थाका भार और सम्पत्तिका उत्तरदायित्व विभिन्न आचार्यों पर होता था, इसलिये उनमें विविध क्षेत्रों और स्थानोंकी अपेक्षा संघ और गच्छ बने हुये थे। मालूम होता है कि उस समय विदेशी लोगोंको भी जैनधर्ममें

1-ASM., 1934, p. 114. २-वही, सन् १९३३, पृ० २६४. ३-वही, १९३४, पृ० १७६. ४-वही, सन् १९४०, पृ० १७२-१७३. ५-वही, १९३८, पृ० ८३-८८. ६-वही, पृ० १८३. ७-वही, १९४२, पृ० १८६. ८-वही, १९४३, पृ० ११४-११५.

दीक्षित किया गया था। एलिनीया यावनिका राजवंशके राजा मक्का आते-जाते थे जिससे उनका सम्बन्ध अरबदेशसे स्पष्ट है। पहले अरबमें मूर्तिपूजक रहते थे।[1] उनके जैनधर्मानुयायी और राज्याधिकारी होकर मुनि होनेपर जैनाचार्योंने उनका एक अलग संघ 'यावनिका' नामक स्थापित किया प्रतीत होता है। उसे 'यापनीय' का अपभ्रंश मानना कुछ ठीक नहीं जंचता! उनका अलग संघ बनानेकी आवश्यकता यूं पड़ी होगी कि वे विदेशी थे और उस समय वर्णाश्रमी कट्टरताका प्रभाव जैनियोंपर भी पड़ा था! नई २ उपजातियां भी बनने लगीं थीं। एक लेखमें उस समय अठारह जातियोंका उल्लेख है, जिनमें अछूत भी सम्मिलित थे और उन सबने मिलकर केशव-मंदिर बनाया था।[2] वैष्णवोंमें यह उदारता जैनोंकी देखादेखी प्रचलित रही प्रतीत होती है।

मुनियोंका महान् व्यक्तित्व।

दिगम्बर जैन मुनि निरारम्भ और निष्परिग्रह रहकर अपनी आत्माका उत्कर्ष और लोकका उपकार करनेमें निरत थे। उनकी महान् पद्वियोंसे स्पष्ट है कि वे चारित्र, विद्या और ज्ञानमें बढ़े चढ़े एवं देवेन्द्रों-नरेन्द्रोंद्वारा पूज्य थे। भट्टारक धर्मभूषणको एक लेखमें "जिनेन्द्रचरण-चंचरीक"–"देवेन्द्रपूज्य"–"चतुर्विधदान-चिन्तामणि" और "जिनमंदिर–जीर्णोद्धारक" कहा गया है;[3] जिससे प्रगट है कि

१–संजैइ०, भा० ३ खंड २ पृ० १६२–१६३. 2–ASM. 1939. p. 101. ३–पंचवाती हुम्चा लेख नं० ४७. ASM., 1934, p. 176

मुनिजन जिनेन्द्रभक्तिमें लीन और मंदिरोंके संरक्षक होते थे। मंदिरोंसे जो गाँव लगे हुए थे, उनकी आमदनीसे उस मंदिरका जैनाचार्य (१) आहार, (२) भैषज्य, (३) अभय, (४) और ज्ञान दानकी व्यवस्था उस मंदिरमें करता था। इस प्रकार मुनिराज और मंदिर लोकोपकारके साधन बने हुये थे। लोगों पर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा हुआ था। जैन सिद्धान्तके साथ२ मुनिजन अन्य सिद्धान्तोंके भी पारगामी होते थे। इसीलिये जैनधर्मके स्थंभ माने जाते थे। अज्ञान-अंधकारका नाश करनेके कारण वे 'अविचलित-बोध-दीप' और 'तमोहर' कहे जाते थे।[१] जनतामें ज्ञान-प्रसार करना उनका परम कर्तव्य था। जो साधु ज्ञानी ध्यानी नहीं होते थे, उन्हें साधुवेशी माना जाता था और कहा जाता था कि वे ज्ञानहीन साधुवेषी केवल अपना पेट भरना ही जानते हैं।[२] सारांशत: मुनिसंघ विवेकपूर्वक लोककल्याणमें निरत था।

आर्यिकायें।

मुमुक्षु महिलायें घर छोड़कर स्वपर कल्याणमें निरत होतीं थीं। उनके संघका नेतृत्व भी संभवतः जैनाचार्य करते थे; क्योंकि लेखोंमें उनके गुरु जैनाचार्य ही कहे गये हैं।[३] यह आर्यिका ज्ञान-ध्यानमें

१—'गणिगित्ति बसदि' शिलालेख—जैसिभा०, भा० १० पृ० ३-४.

२—केपि स्वोदरपूरणे परिणता विद्याविहीनांतरा योगीशा भुवि संभवंतु बहवः किं तैरनंतरिह। 'गणिगित्ति बसति शिलालेख।'

३—तगदूर (चित्तोरे) के लेख नं० ४४ में इलेकव्वे यर नामक आर्यिकाके गुरु नन्दिभट्टारक लिखे हैं। मूलसंघ कोंडकुन्दान्वयसे सम्बन्धित थे। (ASM., 1938, p. 173.)

समय वितातीं हुई ठौर-ठौर जाकर जनताको आत्मबोध करातीं थीं—बालिकाओं और स्त्रियोंको शिक्षा दीक्षा देतीं थीं। वे स्वयं व्रत-नियम पालतीं थीं और श्राविकाओंको उनको पालनेके लिये उत्साहित करतीं थीं। अन्तमें समाधिमरण पूर्वक वह अपनी इह लीला पूर्ण करतीं थीं।[1]

श्रावक श्राविकायें।

साधुओंके पवित्र जीवन और उनकी सत्संगतिका प्रभाव श्रावक श्राविकाओं पर पड़ा था। वे लौकिक धर्मका पालन करते हुये आत्मशुद्धिके मार्गमें आगे बढ़ते थे। जिनेन्द्रकी पूजा करना और दान देना उनके मुख्य धर्म-कर्म थे। स्त्री और पुरुष समान रूपमें जिनेन्द्र पूजा एवं अन्य धार्मिक क्रियायें करते थे। श्रावक श्राविकाओंके अपने२ धर्मगुरु होते थे; जो उन्हें धर्मपालनके लिए उत्साहित और सावधान करते थे। जैन कुलाचारका पालन ठीकसे हो; इसका ध्यान आचार्योंके साथ २ प्रमुख श्रावक भी रखते थे। स्तवनिधिके जैन शासक बोम्मगौडका जीवन एक श्रावकके आदर्शको स्पष्ट करता है। वह जिनचरण चंचरीक थे-गुरुभक्त थे। दूसरे देव और गुरुके आगे नतमस्तक नहीं होते थे। हमेशा सम्यक्त्वमें रत रहते थे और जैनमतकी वृद्धिके लिये तत्पर रहते थे। जैन कुलाचारकी

१—इल्लेकन्तियरने समाधिमरण किया। (वही) विन्ध्यगिरिके स्थम्भ लेख नं० ६५ से स्पष्ट है कि अमृतब्बे कन्तियर नामक आर्यिकाने व्रत तप और समाधिपूर्वक प्राण विसर्जन किये। (ASM., 1939, p. 193.)

वृद्धिका उन्होंने हमेशा ध्यान रक्खा था।[1] जिनमंदिर और मूर्तियां बनवाना,[2] शास्त्र लिखकर भेंट करना, पाठशाला स्थापित करना, २x जीर्ण धर्मायतनोंका उद्धार करना आदि वे धर्मकार्य थे जिनको श्रावक किया करते थे। मंदिरोंमें नंदीश्वर द्वीपके जिनालयोंकी भी रचना कराई जाती थी।[3] श्रावक श्राविकायें जिनमूर्तियोंके अतिरिक्त तीर्थों और गुरुओंकी पूजा करते थे।[4] पूजामें चावलोंके साथ फूल भी चढ़ाये जाते थे, जिनके लिये श्रावक मंदिरोंको बाग दानमें देते थे।[5] श्रावक और मुख्यतः श्राविकायें अनन्तव्रत आदिका पालन करके उनका उद्यापन बड़े उत्सवसे मनाते थे।[7] वे शासनदेवों—क्षेत्रपाल यक्ष-यक्षिणीकी भी मूर्तियां बनाते थे और उनको पूजते थे। अन्तमें समाधिमरण पूर्वक अपनी जीवन लीला समाप्त करनेमें लोग गौरव अनुभव करते थे।[8]

समाधिमरण अथवा सल्लेखनाव्रत गुरुकी आज्ञासे ही किया जा सकता है। गुरु महाराज जब यह समझ लेते हैं कि भक्तका जीवन

1-ASM, 1942, 181-184. '...अव नग धर्ममग़ जैन कुलाचारं गल् वेसँदतागिरेमगलु पुनडरियं माडि पुन्याकार सत्कीर्तिकृत तवनिधिय अधिपं बोम्मनं मेरु धयमनु।'—'जैनमताब्धि वर्द्धनचंद्र'—'सम्यक्त्वरत्नाकर तिलकं' इत्यादि। 2-ASM., 1941, p 204; Ibid, 1942, p. 186. २x हलेबिड स्तंभ लेख नं० ३५ Ibid 1937, p. 185. 3-Ibid., 1942, pp 40-41 ४-हडजनके निषधिलेख नं० ३६ से स्पष्ट है कि हिरिय मादण्णाने निषधिको पूजाके लिये भूमिदान दिया था। (ASM, 1931, pp 164-165). 5-Ibid., 1939, p. 152. 6-Ibid, 1934, p. 175. 7-Ibid 1941, 204. 8-Ibid 1942, pp. 181-185.

संकटापन्न है तो वे उसे सल्लेखनाव्रत दे देते हैं और उसका पालन ठीकसे हो, उसके लिये निर्यापक कर देते हैं। गुरुओंके बाहुल्यसे उससमय सल्लेखनाव्रतका प्रचार समुचित रूपमें था। सल्लेखनाके समयमें जिनेन्द्रदेवका ध्यान और णमोकारमंत्रका स्मरण करते हुये एवं नियमोंको पालते हुये मुमुक्षु स्वर्ग-सुख प्राप्त करते थे। स्वर्गवासी बन्धुओंकी स्मृतिमें निषधि और वीरगल् बनवाये जाते थे। हस्सन जिलेके गोदर नामक स्थानसे जो 'निषधिकल्' (निषधिका शिलापट) प्राप्त हुआ है, उस पर तीन भागोंमें तीन दृश्य उत्कीर्ण हैं। तल भागमें पहले ही उन दो श्राविकाओंके चित्र उत्कीर्ण हैं, जिन्होंने सल्लेखना विधिसे आत्म विसर्जन किया था। वे वीरवर सत्य वेग्गडेकी पत्नियां और आचार्य नयकीर्तिदेव सिद्धांतेशकी शिष्या थीं। पतिके वीरगतिको प्राप्त होने पर उन्होंने सल्लेखनाव्रत लिया था। इसके ऊपर दूसरे दृश्यमें दोनों श्राविकायें देवाङ्गनाओंसे वेष्टित विमानमें स्वर्गको जाती हुई दिखाई देती हैं।[1] इस दृश्यके प्रदर्शनसे सल्लेखना-व्रतका माहात्म्य जनताके हृदयमें घर कर जाता था। तीसरे दृश्यमें जिनेन्द्र भगवन्की मूर्ति अङ्कित है, जिनपर दो देवाङ्गनायें चमर ढोल रही हैं। "जिनेन्द्रकी भक्ति ही स्वर्गसुखदायिनी है"—इस सत्यका बखान निषधिकल्के इस दृश्यसे होता था। सारांशतः जैनाचारको पालन करनेका समुचित ध्यान संघमें रक्खा जाता था।

साम्प्रदायिक विद्वेष और पारस्परिक प्रभाव।

किन्तु इतने पर भी, यह मानना पड़ेगा कि उस समय वर्णा-

1. ASM., 1943, p. 74.

अप प्रधान हिन्दूधर्मकी प्रधानता थी। यद्यपि विजयनगरके शासकोंकी उदार धार्मिक नीति थी, फिर भी वैष्णव और शैव जैनोंको कष्ट देने पर उतारू हो जाते थे। श्रीकृष्णदेवराय सदृश महान् और उदार शासकके राज्यकालमें ही नृशंस घटना घटित हुई थी। करनूल जिलेके श्रीशैल नामक स्थानका शासक शान्तपुत्र वीरशैव धर्मका अनुयायी और अनेकान्तमय (जैनधर्म) का विरोधी था। सन् १५१२ ई० के एक लेखसे स्पष्ट है कि उसने श्वेताम्बर जैनियोंका कत्लेआम कराया था।[1] लेखमें उसके इस नृशंस कर्मकी गणना उसके धर्मकृत्योंमें की है। भला इससे ज्यादा और क्या अत्याचार हो सकता था! ऐसी भयावह स्थितिमें जैनाचार्योंके लिये धर्मको स्थिर रखना कठिन होरहा था। कहीं कहीं तो जैनधर्मायतनोंमें जिनेन्द्रपूजा भी न हो पाती थी।[2] कहीं-कहीं यद्धा-तद्धा श्रावक-श्राविकाओं पर उनके पड़ोसी विधर्मियोंके आचार-विचारका प्रभाव पड़ता था। जैनी उनके देखादेखी लोकमूढ़तामें बह जाते थे; पर जिनदेवको तब भी न भूलते थे! लक्ष्मीदेवी सती हुई—अग्निमें जल मरी, पर मरते दमतक जिनदेव और जैन धर्मगुरुको न भूली! एचिगनहल्लिकी जैन बस्तिके लेख नं० ५६ से स्पष्ट है कि बोला चौकीदार और उसकी मां अकम्प एवं केतिप और उसकी पत्नी चन्दुदेवीने सन्यास मरण किया और कालस्तिलिंगदेवमें लीन हो गये।[3] यहांपर 'कालस्तिलिंगदेव' नाम शैव मतके प्रभावको व्यक्त करता है—'जैनी कालदेवमें विलीन हुए-स्वर्गवासी हुये' वाक्यके स्थानपर 'लिङ्ग' में लीन हुये कह गये हैं! जैन पूजामें जिनेन्द्रदेवके

1-मैसू०, इ० २११. 2-ASM. 3-Ibid, 1886, p. 142.

लिये 'अङ्गभोग' देनेका[१] भी उल्लेख हिंदू मंदिरोंमें अङ्गभोगका स्मरण कराता है। किन्तु इसके साथ ही, यह बात नहीं भुलाई जा सकती कि उस समुदार कालमें जैनियोंकी मान्यताओंका प्रभाव भी हिंदुओं-पर पड़ा था। कट्टर वर्णाश्रमी होते हुये भी, हिन्दुओंने अछूतोंको धर्मकार्यमें स्थान दिया था,[२] यह जैनियोंकी समुदार धर्मनीतिका ही परिणाम समझना ठीक है। यही नहीं, हिन्दुओंने जैनी देव देवियोंको भी अपनाया था। सिद्ध भगवान और पद्मावतीदेवी उनके निकट 'पद्माक्षी' देवी और 'सिद्धेश्वर' देव होगये थे![3] जैन मुनियोंके दिगम्बर भेषका प्रभाव शैव और वैष्णव साधुओं पर पड़ा था—उन्होंने भी 'परमहंसवृत्ति' धारण की थी।[४] उनकी मूर्तियां भी पद्मासन जिनमूर्तिसे मिलती जुलतीं बनाईं गईं थीं।[५] जैन ही नहीं, हिन्दुओं पर उस समय मुसलमानोंका भी असर हुआ था—जनार्दनका एक नाम 'अल्ला लू नाथ' इसी समय रक्खा गया था।[६] दिलावरखां जैसे मुसल-मान जब हिन्दू मंदिरोंको दान देते थे,[७] तब यदि 'अल्लाह' के नामसे हिन्दू अपने देवको पुकारने लगे, तो आश्चर्य ही क्या? मत सहिष्णु-तामें ही ज्ञानधर्म चमकता है और मानव अपना और पराया हित साध सकता है!

प्रान्तीय शासक जैनी थे।

इस प्रकारकी समुदार धर्म-प्रवृत्तिके कालमें विजयनगरके कतिपय

1-Ibid. 2-Ibid. ३-माइंजै०, भा० २ पृ० १६-१७। ४-परिव्राजकाचार्य आदि परमहंस साधु थे। ASM., 1942, p. 234. ५-Ibid. ६-Ibid. ७-Ibid, 1941, pp. 153-154.

(सम्राट् और उनके वंशज ही जैनधर्मके अनुयायी रहे, यही नहीं, बल्कि विजयनगर साम्राज्यके कई प्रान्तीय शासक और सेनापति भी जैन धर्मके माननेवाले थे। जैन धर्मकी मान्यताने उनके जीवन समुदार बनाये थे। जैनी शासक न्यायशील और प्रजाके रक्षक होते थे; जैनी सेनापति शौर्यके आगार और न्यायके आधार थे; जैन वणिक साहसी, देश और धर्मके रक्षक और वर्द्धक थे। सारांशतः जैनधर्मका प्रभाव उस समय भी मानव जीवनको समुन्नत बनानेमें कार्यकारी था।

विजयनगरके राजकुमार और जैनधर्म।

विजयनगरके सम्राटोंके अतिरिक्त उनके राजकुमारोंने भी जैन धर्मको प्रश्रय देकर उसे उन्नत बनाया था। राजकुमार हरिहरने कनकगिरिके जैन मंदिरके लिये दान देकर अपनेको सर्वप्रिय बनाया था। उन्होंने जिनेन्द्रदेवको श्री विजयनाथदेव कहकर पुकारा था। इससे जिनदेवमें उनकी आस्था स्पष्ट होती है।[1] उनके पुत्र राजकुमार विरुपाक्ष भी उन्हींकी तरह जैन धर्मपर सदय हुए थे। मलेराज्यपर जब वह शासन कर रहे थे तब उन्होंने तहतालकी पार्श्वनाथ बस्तिकी जमीनका निपक्ष न्याय करके जैन स्वत्वकी रक्षा की थी।[2]

विजयनगरके सामन्त और जैनधर्म।

विजयनगरके सामन्त शासकोंमें कोङ्गल्व, चाङ्गल्व, सालुव, गेरसोप्पेके शासक और कारकलके भैरस ओडेयर विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने जैनमतको उन्नत बनानेमें सक्रिय भाग लिया था। छोटे सामन्तोंमें आवलिनाडके शासक, कुप्पटूर, मोरसुनाड, बिदिरूर,

१–मेजै०, पृ० ३२९. २–वही, पृ० १८७।

बार्नुरसीमे, नगोहल्लि इत्यादि स्थानोंके महाप्रभु जैनधर्मके अनन्य भक्त थे। यह सामन्तगण विजयनगर सम्राटोंकी छत्रछायामें अपने२ प्रान्तपर स्वाधीन शासन करते थे और समय २ पर सम्राट्के लिये युद्ध लड़कर सम्मान प्राप्त करते थे।

कोङ्गल्व एवं चाङ्गल्व वंशके जैन शासक।

कोङ्गल्ववंशके नरेशोंने जैनधर्मके लिये भूमिदान दिये थे, परन्तु अन्तमें वे भी वीर-शैव-धर्ममें भुक्त हुये थे। वीर शैव होने पर भी उन्होंने जैनोंको समदृष्टिसे देखा था।[1] चंङ्गनाडके चाङ्गल्व नरेश भी वीर शैव धर्ममें दीक्षित हुये थे; किन्तु फिर भी वे जैनधर्मको भुला न सके! चाङ्गल्व नरेशोंने अपने स्वामी विजयनगरके सम्राटोंकी उदार धर्मनीतिका अनुकरण किया था। उन्होंने जैनियों और वीर शैवोंका परस्पर मेल करानेके सद् प्रयत्न किये थे। कहते हैं कि वे अपने इस प्रयासमें सफल हुये थे। जैनों और शैवोंमें परस्पर प्रेम संबंध स्थापित हुये थे। उस समयके बने हुये ऐसे शिवलिङ्ग मिले हैं, जिन पर दिगम्बर जिन मूर्तियां बनी हुई हैं। उनको पूजनेमें न वीर शैवोंको विरोध था और नहीं ही जैनियोंको।[2] चाङ्गल्व नरेश स्वयं जैनधर्मके धारी रह चुके थे। एक चाङ्गल्व नरेशने चिक हनसोगे स्थानपर 'त्रिकूटाचल—जिन—वस्ती' नामक जिनमंदिर बनवाया था।[3] चाङ्गल्व नरेशोंमें उनके अन्तसमय तक जैनधर्मका प्रभाव कार्यकारी

१–संबैइ०, भा० ३ खंड २ पृ०१५६. एवं मेजै०, पृ० ३१३।
२–मेजै०, पृ० ३१५। ३–संबैइ०, भा० ३ खंड २ पृ० १५६ मेजै० पृ० ३२५।

रहा था, यह बात चाङ्गल्वनरेश विक्रमराय (सन् १५५७ ई०) के दानपत्रसे स्पष्ट है। उस दानपत्रमें जिनेन्द्रको मंगलाचरण करके लिखा है कि चाङ्गल्वनरेशने नासीभट्ट नामक ब्राह्मण विद्वानको एक गांव भेंट किया।[1] सम्भव है, नासीभट्ट भी जैनधर्म भुक्त हों। मंगलाचरण दातारको स्याद्वाद मतका उपासक सिद्ध करता है।

राजमंत्री चेन्न बोम्मरस।

सन् १५०९ ई० में चेन्नबोम्मरस नामक जैनी श्रावक चाङ्गल्व नरेशके राजमंत्री थे। बोम्मके वंशमें अनेक पुरुष राजमंत्री रहे थे और वे सब 'जैनधर्म—सहाय—प्रतिपालक' कहलाते थे। स्वयं बोम्मेव मंत्री 'सम्यक्त्व—चूड़ामणि' कहे जाते थे। वह नञ्जराय पट्टनमें रहते थे; जहां उनके कारण जैनधर्म उन्नत बना हुआ था। वहां अनेक गण्य-मान्य जैनी रहते थे। उन्होंने बोम्ममंत्रीके साथ मिलकर श्रवणबेलगोलमें गोम्मटस्वामी मूर्तिके 'कलिवाड' (arbour) का जीर्णोद्धार कराया था।[2]

दंडाधिप मङ्गरस।

किन्तु चङ्गाल्व नरेशोंके राजकर्मचारियोंमें दंडाधिप मङ्गरसका स्थान सर्वोपरि है। मङ्गरस चङ्गाल्वसेनाके सेनापति थे और साथ ही जिनधर्मके अनन्य भक्त और प्रतिभा—सम्पन्न कवि भी थे। उनके पिता महाप्रभु विजयपाल चाङ्गल्व—नरेशके राजमंत्री और कल्लहल्लि नामक क्षेत्रके शासक (नायसराय) थे। उनकी माता देविले थीं। मङ्गरसके माता पिता धर्म—वत्सल श्रावक थे। उनकी धार्मिकताकी छाप मङ्गरसके हृदय पर अमिट थी! किन्तु अहिंसा धर्मके अनन्य

१—मेजै० पृ० ३१६। २—वहीं० पृ० ३१४।

उपासक होते हुये भी मङ्करसका शौर्य और भुजविक्रम लोक-विख्यात था। बेडर नामक आरण्यवासी लोग सभ्य जीवनके लिये कंटक हो रहे थे, अहिंसा संस्कृतिकी गति मतिको आगे बढ़ानेके लिये बेडरोंको शक्तिहीन करना आवश्यक था। वीर मङ्करस जंगली जातिके उन लोगोंके विरुद्ध जा डटे। घोर युद्ध हुआ। अन्तमें बेडर परास्त हुये! चाङ्गल्व नरेश विक्रमराय यह सुनकर प्रसन्न हुवे। मङ्करसके शौर्यकी उन्होंने प्रशंसा की। मङ्करसने अपनी इस विजयको 'बेट्टदपुर' बसाकर मूर्तमान बनाया था। उन्होंने कल्लहल्लि, चिलुकुण्ड, मल्लराज पट्टण, पालुपारे आदि स्थानोंपर दुर्ग बनवाये थे और कई अन्य स्थानों पर तालाब खुदवाये थे। मङ्करसने कई जिनमंदिर बनवाये थे, परन्तु उनमें 'यमगुम्बबसति' नामक जिनमंदिर उल्लेखनीय था। उस मंदिरमें उन्होंने भ० पार्श्वनाथ, पद्मावतीदेवी और चन्निगब्रह्मगयकी मूर्तियां स्थापित कराई थीं और बड़ा उत्सव मनाया था।

संगीतपुरके सालुवनरेश और जैनधर्म।

यद्यपि चाङ्गल्व नरेशोंने जैनधर्मोत्कर्षके लिये जो कार्य किये वे प्रशंसनीय थे, परन्तु संगीतपुर, जेरसॉपे और कारकलके सामन्त शासकोंने जैनधर्मके लिये अटूट परिश्रम किया था। संगीतपुर (हाडुहल्लि) से काश्यपगोत्री चन्द्रवंशी सालुवनरेश तौलव देशपर शासन करते थे। सन् १४८८ ई०के एक शिलालेखमें जो संगीतपुरका

१-मेजै० पृ० ३१५-३१६ मङ्करसके पूर्वज द्वारावतीसे आठसौ जैन कुलोंके साथ आकर कुर्ग देशमें बसे थे और कल्लहल्लि पर शासन करते थे। (रा० शर्मा)

विवरण दिया है, उससे उस नगरकी समृद्धि और वहांपर जैनधर्मके प्राबल्यका पता चलता है । उसमें लिखा है कि 'तौलवदेशमें संगीतपुर सौभाग्यका ही निकेत था-उसमें उत्तुंग चैत्यालय बने हुये थे । वहांपर सुखी, उदार और भोग विलासमें निमग्न नागरिक रहते थे और हाथी घोड़ेसे वह भरापुरा था संगीतपुरमें महान योद्धा, उच्चकोटिके कविगण, वादी और प्रवक्ता रहते थे । वह नगर सरस्वतीका आवास होरहा था, क्योंकि वहां उच्च साहित्यका निर्माण होता था । संगीतपुर अपनी ललित कलाओंके लिये भी प्रसिद्ध था । उस महान् नगरमें उस समय महामंडलेश्वर सालुवेन्द्र शासनाधिकारी थे । वह सालुवेन्द्रनरेश जिनेन्द्र चंद्रगुप्तप्रभुके चरण चंचरीक बने हुये थे । उनका हृदय रत्नत्रय धर्मके लिये सुदृढ़ मंजूषा था । उन्होंने संगीतपुरमें अतीव उत्तुंग और नयनाभिराम जिनचैत्यालय बनवाये थे, जिनमें विशाल मंडप और सुन्दर मानस्तंभ बने हुये थे । धातु और पाषाणकी भव्य मूर्तियां भी उन्होंने निर्माण कराई थीं । नगरमें मनोरम पुष्प वाटिकायें बनवाकर उन्होंने नगरकी शोभाको बढ़ाया था । नागरिक उनमें जाकर आनन्दकेलि करते थे । इतने पर भी सालुवेन्द्र नरेशको इस बातका ध्यान था कि नगरमें धर्ममर्यादा अक्षुण्ण रहे । इसीलिये वह मंदिरोंकी धर्मव्यवस्था ठीक रखनेके लिये सतर्क रहते थे । मंदिरोंमें नियमित धर्म क्रियायें होती रहें, इसके लिये उन्होंने दान-व्यवस्था की थी । देवपूजा, चतुर्विधि दान और विद्वानोंको वृत्तिदानके लिये भी व्यवस्था की गई थी । सारांश यह कि सालुवेन्द्र नरेशने राजत्वके आदर्श और धर्म मर्यादाको ठीक तरहसे निबाहा था । जिनेन्द्रके वह विचक्षण भक्त जो थे ।"

राजमन्त्री पद्म ।

सालुवेन्द्र नरेशके राजमन्त्री पद्म अथवा पद्मण थे। वह भी राजवंशके ही रत्न थे। राजमर्यादाको स्थिर रखनेमें उनका उल्लेखनीय हाथ था। इसीसे प्रसन्न होकर सालुवेन्द्रने उनको ओगेयकेरे नामक ग्राम भेंट किया। किन्तु पद्म इतने समुदार और धर्मवत्सल थे कि उन्होंने वह ग्राम जिन धर्मके उत्कर्षके लिये दान कर दिया। संभवत: उन्होंने अपने नाम पर 'पद्माकरपुर' नामक ग्राम बसाया था और सन् १४९८ ई० में उन्होंने उस ग्राममें एक भव्य जिनालय निर्माण कराकर उसमें भ० पार्श्वनाथकी मूर्ति विराजमान की थी। महामंडलेश्वर इन्द्रगरस ओडेयरकी इच्छानुसार उन्होंने उसके लिये भूमिदान दिया था।

महामंडलेश्वर इन्द्रगरस भी महामंडलेश्वर संगिराजके पुत्र थे। सालुवेन्द्र नरेश संभवत: संगिराजके ज्येष्ठ पुत्र थे। इन्द्रगरस इम्मडि सालुवेन्द्र नामसे भी विख्यात थे। उनका नाम सैनिक प्रवृत्तियोंके कारण खूब चमक रहा था। सन् १४९१ के एक लेखमें उनके शौर्यका बखान है और लिखा है कि उन्होंने शौर्यदेवताको जीत लिया था! बिदिरूर (वेणुपुर) की वर्द्धमानस्वामी बसदिसे प्राचीन भूमिदानका पुनरुद्धार करके उन्होंने जैनधर्मको उन्नत बनाया था।

सालुव मल्लिरायादि जैनधर्मके आश्रयदाता ।

आगे संगीतपुरके सालुव नरेशोंमें सालुव मल्लिराव, सालुव देवराय और सालुव कृष्णदेव जैनधर्मकी अपेक्षा उल्लेखनीय हैं। कृष्णदेवकी माता पद्माम्बा विजयनगर सम्राट् देवराय प्रथमकी बहन थीं। सन १५३० ई० के दानपत्रसे स्पष्ट है कि इन तीनों राजाओंके

प्रसिद्ध जैन गुरु वादी विद्यानंदको आश्रय दिया था। सालुव मल्लिराय और सालुव देवरायके राजदरबारोंमें वादी विद्यानंदने परवादियोंसे सफल वाद किया था। कृष्णदेवने उनके पादपद्मोंकी पूजा की थी।[1] इसी वंशके राजाओंने विजयनगरके राजसिंहासन पर अधिकार किया था यह लिखा जाचुका है।

गुरुराय और भैरवनरेश जैनधर्म प्रभावक थे।

सन् १५२९ ई० के एक लेखसे स्पष्ट है कि सम्राट् कृष्णरायके शासनकालमें गुरुराय संगीतपुरमें शासनसूत्र संभाले हुये थे। उनका सम्बन्ध जेरसोप्पेके शासकोंसे था। नरेन्द्र गुरुराय भी अपने पूर्वजोंके अनुरूप जैनधर्मके अनन्य भक्त थे। वह 'रत्नत्रय धर्मपूजक'—'जिनधर्म ध्वजको फहरानेवाले'—'स्वर्णिम जिनमंदिरों और मूर्तियोंके निर्माता' और जिनमंदिरोंकी शिखिरों पर 'स्वर्णकलशोंको चढ़ानेवाले' कहे गये हैं। इन विरुदोंसे उनकी जैनधर्मके प्रति दृढ़ श्रद्धा स्वयं व्यक्त होरही है। इसी वंशके भैरवनरेशने आचार्य वीरसेनकी आज्ञानुसार बेणुपुरकी 'त्रिभुवन चूडामणिबस्ती' की छतपर तांबेके पत्र लगवाये थे। उनके राजगुरु पंडिताचार्य (वीरसेन ?) थे और कुलदेव भ० पार्श्वनाथ थे। उनकी रानी नागलदेवी भी जैन धर्मकी उपासिका थीं। उन्होंने वहीं मंदिरके सामने एक सुन्दर मानस्थंभ बनवाया था। उनकी दो पुत्रियां लक्ष्मीदेवी और पंडितादेवी नामक थीं। वे निरन्तर जैन साधुओंको दान दिया करती थीं। भैरव नरेश जब रोगग्रस्त हुये तो उससे मुक्त होनेके लिए उन्होंने जिनपूजाके हेतु दान दिया था।

१-मेजै०, पृ० ३१४-३१८. २-जेसाइं० (MSS). पृ० १०७।

सारांशत: सालुव राजवंशमें जैन धर्मकी मान्यता ही नहीं, बल्कि उसका महती उत्कर्ष उसके द्वारा हुआ था।

जेरसोप्पेके शासकगण और जैनधर्म।

जेरसोप्पे अथवा गेरसोप्पेके शासकगण भी विजयनगर सम्राटोंके सामन्त और प्रारम्भसे ही जैनधर्मके अनुयायी थे। उनका सम्बन्ध संगीतपुर और कारकलके जैन राजाओंसे था। उनके सद्कार्योंने गेरसोप्पेका नाम जैन संघके इतिहासमें अमर बनाया था। चौदहवीं शताब्दिके अन्तिमपादमें मङ्गभूप अथवा मङ्गराज नामक नरेश अपने धर्मकर्मके लिये प्रसिद्ध थे। अक्कवरसि उनकी रानी थीं। राजकुलमें निरन्तर धर्म कार्योंकी चर्चा रहती थी। उससे प्रभावित होकर मंगराजके बहनोई पद्मणरसने भ० पार्श्वनाथकी पूजाके लिये भूमिदान दिया और मंदिरका जीर्णोद्धार कराया, अपनी स्वर्गीय रानी लंगलदेवीकी आत्माको शांति पहुंचानेके लिये उन्होंने यह दान दिया था। मंगराजके पुत्र नृप हयवण्णरस थे। उनकी रानी सान्तलदेवी बोम्मण-सेट्टिकी पुत्री थीं। यह दम्पति अन्तरजातीय क्षत्रिय–वैश्य विवाह सम्बंधका जीवित आदर्श था। सान्तलदेवी जिनेन्द्रदेवकी अनन्य उपासिका थीं। व्रत-उपवास करते हुये पवित्र जीवन व्यतीत करके उन्होंने समाधिमरण किया था।[1]

इम्मडि देवराय ओडेयर।

सन् १५२३ ई०में गिरिसोप्पेके आदर्श शासक इम्मडि देवराय ओडेयर थे जिनका सुप्रख्यात नाम देवभूप था। वह पांड्यनरेशकी

1—मेजै०, पृ० ३४२।

रानी भैरवाम्ब के सुपुत्र थे। भैरवांबा गिरिसोप्प राजवंशकी राजकन्या थीं। इसलिये ही उनका पुत्र गिरिसोप्पेका शासक हुआ। एक दानपत्रमें वह नगरी (गिरिसोप्प) है वे, तुलु, कोङ्कण आदि देशोंके शासनाधिकारी कहे गये हैं। देवभूर भी जैनधर्मके दृढ़ श्रद्धालु थे। वह स्वयं धर्म नियमोंका पालन करते थे और अपनी प्रजाको भी धर्ममें ऋजु करते थे। सन् १५२३ ई० में वह लक्ष्मणेश्वरकी 'संख जिनवस्ती' के दर्शन करने गये और बन्दुवाल नामक ग्राम मन्दिरको इसलिये भेंट किया कि उसकी आयसे चन्द्रनाथ जिनेन्द्रकी पूजा और उनके कल्याणक उत्सव निरंतर किये जाते रहे। देशीयगणके आचार्य चन्द्रप्रभदेवके सुपुर्द यह दान व्यवस्था की गई थी। इस दानपत्रके अंतमें गंगा, गोदावरी, श्रीपर्वत-तिरुमले नामक स्थानोंके साथ ऊर्जन्त (गिरनार) का भी उल्लेख है, जिससे प्रतिभासित है कि गिरिसोप्पेके निवासियोंको तीर्थराज गिरिनारका परिचय था। उन्होंने ऊर्जयन्तपर ऋषियोंके दर्शन किये थे। नृप इम्मडि देवराय न केवल धर्मशूर थे बल्कि वह कर्मशूर भी थे। वह सम्पूर्ण राजबुद्धि-कौशलके स्वामी और सप्त-राज-अङ्गोंमें निष्णात थे। इनका शौर्य अतुल था। वह साहित्यरसिक भी थे। उन्होंने शान्तिजिनकी भव्य मूर्ति भी प्रतिष्ठित कराई थी जो आजकल मद्रासके संग्रहालयमें मौजूद है। देवरायने श्रवणबेलगोलके गोम्मटस्वामीका महामस्तकाभिषेक उत्सव इन्द्रके समान विशेषतासे मनाया था। यह महान धर्मकृत्य सन् १५३९ ई० से घटित हुआ था। उस समय चाबु ङसेट्टिने हर्षातिरेकमें श्रवणबेलगोलके अपने कर्जदारोंको बंधनमुक्त कर दिया था। राजाके

राजकार्योंका प्रभाव प्रजामें प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक था ।* मिरि-ओमेके नागरिकोंने जिनधर्म-मन्दाकिनी कैसी उन्नत बनाई है यह पाठक आगेके एक प्रसंगमें पढ़ेंगे ।

कारकलके भैररस शासक और जैनधर्म ।

कारकलके भैररस ओडेयर शासकगण भी विजयनगर साम्राज्यमें शक्तिशाली सामन्त थे । उनका राजकुल मथुराके उग्रवंशी राजाओंसे सम्बंधित था, जिनमेंसे राजा साकारका पुत्र जिनदत्तराय दक्षिण भारतमें आकर शासनाधिकारी हुआ था । उन्हीं जिनदत्तरायके वंशज कारकलके भैररसु नरेश थे। इस वंशके आदि नरेश भैरव अरसु पोम्बुचके निकट कैरवसे नामक स्थानपर महल बनाकर रहने लगे थे । एक दिन यह नरेश अपने महलसे दक्षिणकी ओर जमीन देखने गये तो उन्होंने वहां एक कारे वृक्षके नीचे गाय और सिंहको साथ साथ प्रेमसे प्रसन्नतापूर्वक बैठे हुये देखा । उस स्थानको महत्वशाली जानकर उन्होंने वहां एक सुंदर जिनमंदिर बनवाया और उसमें अपने कुल-देवता नेमीश्वरस्वामीकी मूर्ति स्थापित की । कारे वृक्ष तेल गऊ और सिंहको इकट्ठा पानेके कारण उन्होंने अपनी राजधानीका नाम भी कारकल रक्खा था । उनकी बिरुदावली निम्न प्रकार थी:—

"स्वस्ति श्री महामण्डलेश्वर, अरिरायगंड, आडिदभाषेगे तप्पुवरायर गंड, मरे होक्कवर कायुव, मरेतर गेलुव, मल्लवंटर.... निष्कलंक, परनारी सहोदर, अरवत्तनाल्कु-मंडलिकर-गंड, गुत्तिहनिवर-गंड, पोम्बुच-पुरवराधीश्वर, सुवर्णकलशस्थानाचार्य, श्री वीर भैरवेन्द्र अरसु,

---

सोमवंश, काश्यपगोत्र, सत्पात्रदान–जिनधर्मधुरन्धर, कारकल सिद्ध सिंहासनाधीश्वर।"[१] इस विरुदावलीसे भैरव नरेशके व्यक्तित्वकी महानता स्पष्ट है। जिनदत्तरायके समान ही वह वीर और जैनधर्मके अनन्य भक्त थे। उनके पश्चात् कारकलमें निम्नलिखित राजाओंने शासन किया था। १–पांड्यदेवरस अथवा पांड्य चक्रवर्ती, २–लोकनाथ देवरस, ३–वीरपांड्यदेवरस, ४–रामनाथ अरस, ५–भैररस ओडेय, ६–वीर पांड्य भैरस ओडेय, ७–अभिनव पांड्यदेव (पांड्य चक्रवर्ती) ८–हिरिय भैरदेव ओडेय, ९–इम्मडि भैरवराय, १०–पाण्डयप्प ओडेय ११–इम्मडि भैरवराय, १२–रामनाथ, १३–वीर पांड्य।[२] यह सब ही राजा जैनधर्मके उपासक महान् वीर थे। देश और धर्मकी रक्षाके लिये वे सदा तत्पर रहते थे। अन्तमें कारकलके इस राजवंशको भी वीर शैवोंने अपने धर्ममें दीक्षित कर लिया था।[३] इस पर भी वे जैनधर्मके सहायक रहते थे।[४]

प्रथम नरेश पांड्यदेवराजने सन् १३३४ में कारकलके पास हरियनगडीकी गुरुगलवस्ती नामक जिनमंदिरको दान दिया था। राजा लोकनाथरस द्वारा तुलुवदेशमें जैन धर्मका विशेष प्रचार किया गया था। 'वल्लालरायचित्तचमत्कार' विरुद धारी श्री चारुकीर्ति पंडितदेव उनके शिष्य थे। कारकलमें मूलसंघ क्राणूरगणके आचार्य भानुकीर्ति मलधारिदेवके पट्टशिष्य कुमुददेव भट्टारकने भ० शान्तिनाथका भव्य

१–कारकलकी कैफियत–जैसिभा०, भा० ३ पृ० ३९। २–वही, पृ० ३७। ३–मैजै०, पृ० २८०। ४–वही पृ० ३६१। ५–ममैप्राक्मा० पृ० १२९।

मंदिर निर्माण किया था। राजा लोकनाथके शासनकालमें सन्० १३३४ ई० में उनकी ज्येष्ठ भगिनियोंके अन्य राज्याधिकारियोंके साथ इस मंदिरको भूमिदान दिया था। वे दोनों बहनें बोम्मलदेवी और सोमलदेवी जैनधर्मकी अनन्य उपासिका थीं। राज्याधिकारियोंमें अलप अधिकारी अपनी धार्मिकताके लिये प्रसिद्ध थे। लोकनाथकी बिरुदावलीमें 'समस्तभुवनाश्रय'–'श्रीपृथ्वीवल्लभ' और महाराजाधिराज' बिरुदोंसे स्पष्ट है कि वह एक हद तक स्वाधीन शासक थे।[1]

हनसोगेके भट्टारकगण और भैरव नरेश।

उपरान्त जब कारकलके इन जैन शासकोंपर लिंगायत मतका प्रभाव पड़ा, तो हनसोगेके जैनगुरु आगे आये और उन्होंने इन राजाओंका मन पुनः स्याद्वाद सिद्धान्तके प्रति ऋजु किया। हनसोगेके भट्टारक ललितकीर्ति मलधारिदेवके उपदेशसे भैरवेन्द्र नरेश और चन्दलाम्बा पुत्र वीरपाण्ड्य नृपेन्द्रने कारकलमें एक विशालकाय गोम्मटप्रतिमा निर्मापित कराई थी। उस विशाल मूर्तिकी प्रतिष्ठा महोत्सव बुधवार सन् १४३२ को बड़े उत्सवसे किया गया था! कारकलके निकटवर्ती ग्राम हिरियङ्गडिमें स्थित हिरे नेमीश्वरवसदिको भी इन्होंने दान दिया था।[2] सन् १४३१ ई० में यही नरेश श्रवणबेलगोलके गोम्मटेश्वर मूर्तिके लिये दान दे चुके थे।[3] भट्टारक ललितकीर्तिका प्रभाव राजा और प्रजामें धर्मोत्कर्षके लिये कार्यकारी हो रहा था। हिरियङ्गडिके व्यापारियोंने उनके ही उपदेशसे सन्

१–मेजै०, पृ० ३५४; २–मेजै०, पृ० ३५९, ३–मेमोआ० जैस्मा०, पृ० १२९.

१४७५-७६ ई० में वहींकी तीर्थङ्कर बसतिका मुखमंडप बनवाया था।[1] वीरपांड्यका अपरनाम पाण्ड्य क्ष्मापति भी अनुमान किया गया है, जिन्होंने भव्यानन्द शास्त्र रचा था।×

शासनकर्ता काललदेवी।

वीरपांड्यकी बुआ और भैरवेन्द्र नरेशकी छोटी बहन काललदेवी बागुञ्जिसीमे नामक स्थान पर शासन करती थीं। यह रानी भी अपने भाई भतीजोंके अनुरूप जैनधर्मकी उपासिका थीं। सन् १५३० ई० उन्होंने अपने राज्यमें जैनधर्म प्रचारका विशेष प्रबन्ध किया था। बागुञ्जि भव्यजीवों (जैनियों) का प्रमुख केन्द्र था। कल्लबस्तीके पार्श्व-तीर्थङ्कर काललदेवीके कुलदेवता थे। जब उनकी पुत्री रामदेवीका असामयिक स्वर्गवास हुआ तो काललदेवीने उनकी स्मृतिमें अपने कुलदेवताकी दैनिक पूजा और उत्सवके लिये भूमिदान दिया था। कुछ समय पहले उसी कल्लबस्ती (मंदिर) को बोलिय नामक मल्लाइने दान दिया था। रानीने मल्लाइके दानको भी बढ़ा दिया था। कालक महादेवी द्वारा जैन धर्मका उत्कर्ष विशेष हुआ था।[2]

राजा इम्मडि भैरवेन्द्र और जैन धर्म।

राजा इम्मडि भैरवेन्द्र ओडेयर अपनेको पट्टि पोम्बुचपुरकी शासनाधिकारी कहते थे। उन्होंने कारकलमें विशाल 'चतुर्मुखबसति' नामक मंदिर निर्माण कराके जिनधर्म-भक्तिका परिचय दिया था। बुधवार १६ मार्च सन् १५८६ ई० को उस मंदिरकी प्रतिष्ठोत्सव

१-मैबै०, पृ० ३६२; ×-प्रेति भ०, ३ प्र० स० पृ० ३८,
२-मेबै०, पृ० ३२०-३२२.

सम्पन्न हुआ था। सन् १५९८ में उन्होंने कोप्प ग्रामके सावन चैत्यालयके भ० पार्श्वनाथके निमित्त भी दान दिया था। पांड्य नायकने इन भगवान्‌की मूर्ति प्रतिष्ठित कराई थी।[1] सन् १६४६ ई० में इम्मडि भैरवेन्द्रने कारकलके विशालकाय गोम्मटेश्वर-मूर्तिका महामस्तकाभिषेक उत्सव बड़ी शानसे मनाया था। भैरवेन्द्रने कवि चन्द्रम्‌को आश्रय दिया था, जिन्होंने भ० ललितकीर्तिकी आज्ञानुसार 'कारकल-गोमटेश्वर-चरिते' ग्रन्थ रचा था।[2] हिरियङ्गडिकी अम्मनवर-बस्ती नामक जिन मंदिरको भी संभवतः इन्हीं भैरवराज ओडेयरने दान दिया था।[3]

इन्हीं इम्मडि भैरवनरेशका एक शिलालेख कारकलकी पहाड़ी पर स्थित चौमुखा मंदिरमें निम्न प्रकार है:—

सारांशतः कारकलके भैरव अरसुनरेशों द्वारा जैन धर्मकी उन्नति विशेष हुई थी। विजयनगर कालके वे स्वाधीन शासक थे।

"श्री जिनेन्द्रकी कृपासे भैरवेन्द्रकी जय हो। श्री पार्श्वनाथ सुमति दें! श्री नेमि जिन बल व यश दें। श्री अरह, मल्लि, सुव्रत ऐश्वर्य दें। पोम्बुचाकी पद्मावती देवी इच्छा पूर्ण करे। पनसोगाके देशीयगणके गुरु ललितकीर्तिके उपदेशसे सोमकुली, जिनदत्तकुलोत्पन्न, भैरव राजाकी बहन गुम्मतम्बाके पुत्र, पोमच्छपुरके स्वामी, ६४ राजाओंमें मुख्य, बंगनगरके राजा, न्यायशास्त्रके ज्ञाता काश्यपगोत्री इम्मडि भैरवने कपिकल (कारकल) की पांड्यनगरीमें श्री गोम्मटेश्वरके

१-मेजे०, पृष्ठ ३६३। २-मैजै०, पृष्ठ ३८५। ३-ममै प्राजैस्मा०, पृ० १२८।

सामने चिक्कवेट्य चैत्यालय बनवाया गया तथा शालिवाहन सं० १५०८ चैत्र सुदी ५ को श्री अर, मल्लि तथा सुव्रतकी मूर्ति चारों तरफ स्थापित कीं व पश्चिममें २४ तीर्थंकर स्थापित किये। उनके अभिषेकके लिये तेलपारू ग्राम दिया। यह लेख इन्द्रवज्र छंदमें स्वयं महाराजने रचकर लिखा है।"[1] इस वर्णनसे इम्मडि भैरवनरेशका ऐश्वर्य, धर्मभाव और विद्यापटुता स्पष्ट है।

भैरव अरसूनरेशोंके धर्मकृत्य।

भैरव अरसूनरेशोंके शिलालेखोंसे उनका जैनधर्म प्रेम और श्रद्धान स्पष्ट है! सन् १४०८ ई०में २७ अक्टूबरको जब भैरवदेवीने समाधिमरण किया तो उनकी निषधि बनाई गई। भैरवरस राजाओंके सामन्त भी जैनधर्मके प्रभावक रहे थे। हाडुवल्लिमें साल्वेन्द्रक्षितिपने संगीतपुरके पंडितार्य परमगुरुके उपदेशसे १३ जून सन् १४८४को चंद्रप्रभ जिनकी प्रतिमा और मानस्तंभ निर्माण कराये थे।[2] मूड़भटकलमें अकलंक गुरुके शिष्य चेन्नराजने एक चैत्य निर्माण कराया। उनकी रानी गंगान्वयी भामिनीदेवी व्रताचार पालनेमें दृढ़ थीं। ३० अप्रैल सन् १४९० ई० को उन्होंने सल्लेखना विधिसे प्राण विसर्जन किये! सं० १३५१ में अभिनव चारुकीर्तिके शिष्य भैरवने त्रिभुवनचूड़ामणि चैत्य नामक मंदिर भल्लातकीपुर, बेलगोलपुर, चंद्रगुत्ती और होन्नावारमें बनवाये थे। वेणुपुरके चन्द्रजिनमंदिरको उन्होंने वीरसेन गुरुकी आज्ञानुसार पीतलसे मंढवाया था। उनकी रानी नागलने मानस्तंभ बनवाया था। पौष शुक्ल १ बुधवार सं० १३८४ को जब

१–ममेप्राजैस्मा०, पृ० १३०–१३२. २–जैऐ०, भा० १ पृ० ७२–७३.

नगिरहिरे भैरव बहुत बीमार थे, तो उन्होंने बिदिरे चन्द्रनाथको भूमिदान दिया। उनके छोटे भाई भैरस और अम्मिराय बेलगोलके पंडितदेवके शिष्य थे। क्षेमपुरमें भैरवदेवीने मंडप बनवाया था। हुमचाके अभिनव पांड्य नरेश मलधारी ललितकीर्तिके शिष्य थे। (जैऐ०, भा० ९ पृ० ७३-७४)।

अवशेष सामंत और जैनधर्म।

लक्ष्मी बोम्म और उनके पति बोम्मरस।

अवशेष सामन्तोंमें आवलिनॉड-नरेश, सोहराब और कुप्पटूरके महाप्रभु, मोरासुनाड, बिदिरूर, बागुञ्जिसीमे, नगेहल्लि आदि स्थानोंके शासक भी जैनधर्मके भक्त और उसकी प्रभावना करनेवाले थे। सोहराब बीर गौडकी पुत्री और आलवमहाप्रभु तवनिधि बल्लकी रानी लक्ष्मी बोम्मक जैनधर्मकी दृढ़ श्रद्धालु उपासिका थी। उनके गुरु बलात्कारगणके सिंहानन्द्याचार्य थे; जिनके उपदेशानुसार लक्ष्मीने अनेक धर्म कार्य और उपवास किये थे। सन् १५७२ ई०में उसने समाधिमरण किया।[1] लक्ष्मी बोम्मलेके पति बोम्मरस भी जैन धर्मके दृढ़ उपासक थे। वह सुहराब और स्तवनिधि दोनों स्थानों पर शासन करते थे। शिलालेखमें इन दोनों स्थानोंकी तुलना अमरावती और अलकावतीसे की गई है; जिससे उनका वैभवशाली होना स्पष्ट है। किन्तु बल्ल मुख्यतः स्तवनिधिमें ही रहते थे। वह हरिहर द्वितीयके सामन्त थे। बल्ल (बोम्मरस) के विरुद 'श्रीमान् आनुव महाप्रभु, अष्टादश-कंपण-शिरोमणि, महाप्रभुत्व-आदित्य, उनके ऐश्वर्यको प्रगट करते हैं।

1-मैजै०, पृ० ३२०।

गुप्तिके १८ कम्पणोंकी गौड़-प्रजाने एक पंचायत बनवासीमें बुलाई थी, उसके प्रमुख ब्रह्म रहे थे। सारांश यह कि प्रजा ब्रह्मको अपना सच्चा हितैषी मानती थी। वह एक आदर्श शासक जो थे। जैन धर्म उनके रोम-रोममें समाया हुआ था। उनको साक्षात् पुण्याकार और मेरुधैर्य कहा जाता था। धर्मके मंगलरूप जैनकुलाचारका उन्होने पुनरोद्धार किया था। उनकी सत्कीर्ति भुवनविख्यात् थी। उनका दृढ़ सम्यक्त्व था। इसी लिये ब्रह्मने प्रतिज्ञाकी थी कि 'मैं जिनदेवके अतिरिक्त किसी अन्य देवको नमस्कार नहीं करूंगा। उस समय जैन धर्मकी स्थिरताके लिये इस प्रकारकी प्रतिज्ञायें कराना आवश्यक थीं। जिनदेव ही एकमात्र उनके हृदयासन पर विराजमान थे। अतः कामदेवकी गतिके लिये उनके चित्तमें स्थान ही नहीं था। राजकंचुकियों और परदाराओंके लिये वह सहोदर थे। कामदेवको उन्होने जीत लिया था। शान्तिनाथ उनके पिता और पालकब्बे उनकी माता थीं। पार्श्वसेन उनके गुरु थे। जैनी मात्र उनके सगे सम्बन्धी थे। ऐसा उनका वात्सल्य धर्म था। निस्सन्देह वह एक महान् वीर, कीर्ति-वल्लभ, सम्यक्त्वरत्नाकरतिलक, जैनमताब्धिवर्द्धनकर, और सत्कीर्त्यंगना-वल्लभ थे। उनके समान लोकमें और कोई नहीं था। सानन्द गौरवयुक्त शासनाधिकार भोगकर ब्रह्मने शक सं० १२०१ में सन्यास ग्रहण करके स्वर्गलोकको प्रयान किया था। (ASM., 1942, pp. 181-184 Tarananadi Inscrip: No. 68).

रत्ननिधिके सामन्त जैनधर्मप्रभावक।

इसके पहले भी रत्ननिधि (धनिधि) के सामन्त जैनधर्मके

अनुयायी थे। माधिगौड़के पुत्रका नाम भी बोम्मण था। वह माघचन्द्र मलधारिदेवके शिष्य थे। सन् १३७२ ई० में उन्होंने समाधिमरण किया था। उनका एक राजकर्मचारी भी उन्हीं गुरुका शिष्य था। उस समय जैनगुरु श्रावकोंको धर्ममार्गमें अग्रसर करते रहते थे। सोहरावके महाप्रभु तम्मगौड़ क्षयरोगसे पीड़ित हुये। सन् १३९४ ई० में वह घाट—पर्वतोंकी तलहटीमें नगिलेयकोप्प नामक स्थानपर औषधि उपचारके लिये जा रहे थे। परन्तु उनको स्वास्थ्य लाभ नहीं हुआ। वह लौट आये और अपने गुरु सिद्धांतदेवकी शरणमें पहुंचे। गुरु महाराजने उनका अंत समय निकट जानकर उन्हें सल्लेखना व्रत दिया। पंच नमस्कार मंत्रका जाप करते हुये उन्होंने विधिवत् प्राण विसर्जित किये थे।[1] इस तरह सोहरावके महाप्रभूओं द्वारा धर्मका उत्कर्ष विशेष हुआ था।

आवलिनॉडके महाप्रभु और जैन धर्म।

सोहराव स्तवनिधिके शासकोंके अनुरूप ही आवलिनॉडके महाप्रभू भी जैन धर्मके अनन्य उपासक थे। उनके संरक्षणमें जैन धर्मका उत्कर्ष इस प्रदेशमें ऐसा हुआ था कि वैसा उस समय अन्यत्र कहीं भी नहीं हुआ था।[2] आवलिनॉडके महाप्रभू शासकोंके साथ वहांके सरदार, राजमहिलायें और नागरिक भी जैन धर्म प्रभावनाके

१-मेजै० पृ० ३२५।

२-"The Mahaprabhus of Avalinad by their stead-fastness to the service of the Jaina Dharma had raised religious zeal to a height which it rarely attained anywhere in those days."

—Dr. Saletore, मेजै०, पृ० ३३३.

कार्य करनेमें अग्रसर रहे थे। चौदहवीं शताब्दिके मध्यसे पन्द्रहवीं शताब्दिके प्रथम पाद तक वहां पर जैन धर्मका उत्कर्ष खूब ही हुआ। राजा और प्रजा—सब ही जैन धर्मके आचार-विचारोंमें रंगे हुये थे और जैन नियमोंको पालनेमें गर्व करते थे। वे धार्मिक जीवन बितानेके साथ ही अन्त समयमें धर्म विधिपूर्वक ही अपनी ऐहिक लीला समाप्त करते थे। जैन गुरु निरन्तर श्रावक संघको धर्म पालनेके लिए सावधान करते रहते थे। अनेक श्रावकोंकी निषधिकायें आज भी आवलिनाडुकी धार्मिकताको प्रगट करती हैं। सन् १३५३ ई० में श्री रामचन्द्र मलधारिदेवके शिष्य कामगौड़ने समाधिमरण पंचनमस्कार मंत्रकी आराधना करते हुये किया था। उनके धर्माचरणका प्रभाव जनता पर इतना अधिक था कि उसने स्वयं उनकी स्मृतिको स्थिर रखनेके लिये निषधिका बनवाई थी। सन् १३५४ में जब मलगौडने समाधिमरण किया तो उनकी पत्नी चेन्नकने उनके वियोगमें 'सहगमन' किया। चन्दगौडके छोटे भाई सिद्धांतदेव गुरुके शिष्य थे। सन् १३६६ में उन्होंने भी सन्यास लेकर स्वर्गगमन किया था। तबसे लगातार पचपन वर्षों तक सन्यासमरण करना आवलिनाडके गौड़ प्रमुओंमें एक माननीय प्रथा रही थी। आवलिनाडके महाप्रभुओंने ही स्वयं यह आदर्श जनताके समक्ष उपस्थित किया था। आवलिनाडके महाप्रभू चंदगौडके पुत्र बेचिगौड जैनाचार्य श्री रामचंद्र मलधारिदेवके शिष्य थे। वह अपने गुरुके पथप्रदर्शनमें धर्म नियमोंका पालन करते थे। अन्त समयमें उन्होंने गुरुआज्ञासे पंचनमस्कार मंत्रका स्मरण करते हुये सन् १३७६ में समाधिमरण किया था। इसपर उनकी लघु-पत्नी

बुल्लिगौन्डिने 'सहगमन'-प्रथाका अनुसरण किया था—उसने भी अपने पतिके साथ अपनी ऐहिकलीला समाप्त कर दी थी। इसपर आवलिके अनेक प्रमुखोंने इस राज-दम्पतिकी जिनधर्म-भक्तिको चिरस्थायी बनानेके लिये निषधिका बनवाई थी। शासनाधिकारी महाप्रभू बेचगौड़की पत्नीजी कामिगौन्डिने भी सन् १३९५ में समाधिमरण किया था। वह राजगुरु सिद्धांतियतिकी शिष्या थीं। १३९८ में महाप्रभू चन्द्रगौड शासन कर रहे थे। उनकी रानी चन्द्गौन्डि आचार्य विजयकीर्तिकी शिष्या थीं। धर्म-कर्म करनेमें वह सचेत रहती थीं उन्होंने भी अपनी ऐहिक जीवनलीला सन्यासमरण द्वारा समाप्त की थी। आवलि-शासक महाप्रभु रामगौड़के पुत्र हारुवगौड़ मुनि भद्रदेवके शिष्य थे। सन् १४०८ ई० में उन्होंने भी अपने गुरुसे सल्लेखना व्रत लिया था। सन् १४?७ ई० में जब महाप्रभु अयप्पगौड़ शासन कर रहे थे, तब उनकी पत्नि कलिगौन्डिने भी समाधिमरण किया था।[1] इन उल्लेखोंसे पाठक समझ सकते हैं कि उससमय आवलिनॉडमें जैन धर्म किस व्यवहारिक रूपमें उन्नत हो रहा था।

कुप्पटूरके शासक और जैन धर्म।

इसी प्रकार कुप्पटूरके शासक भी जिनेन्द्र भक्त थे। यद्यपि कुप्पटूरमें ब्राह्मणोंका प्राबल्य था, किन्तु राजाश्रय पाकर जैनधर्म वहां भी उन्नतशील रहा था। पहले ही कदम्बवंशकी रानी मालळदेवी जो कीर्तिदेवकी अग्रमहिषी थी, वहांपर सन् १०७७में 'पार्श्वदेव चैत्यालय' नामक जिनमंदिर बनवाया था। कुप्पटूरके ब्राह्मणोंने उसका नाम

1—मैजै०.

'ब्रह्मजिनालय' रक्खा और उन्होंने भी जिनमंदिरको दान देकर अपनी उदारताका परिचय दिया। इस मंदिरकी व्यवस्था बन्दणिके तीर्थके श्री पद्मनन्दि आचार्य करते थे।[1]

सामन्त मुद्दय्य।

सन् १२०७ ई० में कुप्पटूरमें सामन्त मुद्दय्यने भी एक सुंदर जिनमंदिर बनवाया था। मूलसंघ काणूरगण तिंत्रिणीकगच्छके अनंतकीर्ति भट्टारक उनके गुरु थे। बल्लालदेवके राज्य-भूषण वह समझे जाते थे। वह धर्मात्मा और दानवीर श्रावक थे। खेचभूपतिके वह योग्य उत्तराधिकारी थे। मागुंडि नामक स्थान पर भी उन्होंने जिन मन्दिर बनाकर दान दिया था। १२१३ में कुप्पटूरमें श्री ललितकीर्तिमुनिके शिष्य शुभचन्द्रने समाधिमरण किया था।[2]

गोप महाप्रभु।

कुप्पपूरके प्रान्तीय शासक (Governor) गोप महाप्रभु भी जैनधर्मके अनन्य भक्त थे। जैनधर्मको धारण करके वह ऐसे पवित्र हुये कि उनका चारित्र धर्म स्वर्गके लिये सीढ़ियां ही माना गया! गोप चामूप गौड थे और उनके गुरु मूलसंघ देशीयगणके सिद्धांताचार्य थे। उन्होंने जैन सिद्धांतमें उनको पारङ्गत बनाया था। कुप्पटूरमें एक जिनालय बनवाकर उसके लिये खूब दान दिया था। इनके पुत्र सिरियण्ण श्रीपति बांधवपुरके शासक थे और पौत्र महाप्रधान गोपण्ण थे। गोपण्णके दुर्गके शासक नियुक्त किये गए थे। इन महाप्रभु गोपण्णकी दो धर्मपत्नियां (१) गोपाई और (२) पद्माई नामक थीं और दोनों ही अपने पतिके समान जिनेन्द्रभक्ता थीं। एक दिन चामूप

१-मेजै० पृ० १५८-१५९, २-मेजै०, पृ० २०९.

गोप महाप्रभूने लोकको अपने जैनत्वका परिचय देना ठीक समझा ! अपना आत्महित साधनेके साथ २ लोकहित साधना आदर्श जैनका कर्तव्य है ! उन्होंने खूब आनन्दोत्सव मनाया—पत्नियोंके साथ खूब भोगविलास किया और उनको संतुष्ट करके उन्होंने इन्द्रियजन्य सुखाभाससे मुंह मोड़ लिया। वैराग्य उनके मन भाया। ब्राह्मणोंको उन्होंने गऊ, नाज, स्वर्ण आदिका दान दिया। जिनेन्द्र भगवानका स्मरण किया और धर्म साधनोंमें लीन होगये। मोक्षलक्ष्मीके वरदहस्तका अवलम्बन लिये हुये वह स्वर्गवासी हुये। भव्योंने उनके धर्मको सराहा। उनकी धर्मपत्नियां भी पीछे नहीं रहीं। उन्होंने भी ब्राह्मणोंको दान दिया और मनशुद्धिपूर्वक सिद्धांताचार्यके पादपद्मोंको नमस्कार करके धर्म-साधनमें जुट गईं। निरंतर वीतराग भगवान्‌का ध्यान करके वे भी स्वर्गको सिधारीं।[1]

करियप्प दंडनायक।

मोरसुनाडुमें उस प्रांतके शासक श्री करियप्प दंडनायकने सन् १४२६ में चोक्कमय जिनालय निर्माण कराया था और उसके लिये भूमिदान दिया था। उनके गुरु पुस्तकगच्छके श्री आचार्य शुभचन्द्रजी सिद्धांतदेव थे। वहांके अन्य शासकोंके विषयमें अधिक वृत्त अज्ञात है।

रामनायक।

विदिरूरके शासक रामनायकने सन् १४८७ ई० में २७ मई

१–मेजै० पृ० ३०९ व सोशल एण्ड पोलीटिकल लाइफ इन दी विजयनगर एम्पायर, भा० २, पृष्ठ २४५.

(जेठ सुदी ५ सं० १४१० शक) को वहां 'वर्द्धमानस्वामी बस्ती' नामक एक सुंदर जिन मंदिर निर्माण कराकर इसमें आदिनाथ भगवानकी प्रतिमा विराजमान की थी। रामनायक सान्तार सरदार थे और उनका सम्बंध आदिया (Adiyas) लोगोंसे था। वह एक महान् वीर थे। इससे पहले वहांपर एक अन्य जिनमंदिरका निर्माण श्री मैणदान्वय, देशीयगण, नागरकुडिके आचार्य शुभचंद्रदेवने कराया था। कडितले गोत्रके मल्लिने उसमें जिन प्रतिमा विराजमान कराई थी। उनकी जिनेन्द्र भक्ति प्रशंसनीय थी।[1]

विजयनगरके अनेक सेनापति और राजमन्त्री जैन थे।

इस प्रकार विजयनगर सम्राटोंके प्रान्तीय शासकगण और सामन्तजन जैन धर्मके पोषक और अनुयायी थे। उन्हींके अनुरूप विजयनगर सम्राटोंके सेनापति और मंत्री भी जैन धर्मानुयायी थे। उनमें सेनापति इरुगपका वंश प्रसिद्ध था। उस वंशमें कई पीढ़ियोंसे मंत्रीगण होते आये थे। सम्राट् बुक्करायके महाप्रधान बैच दण्डेश थे, जो अपनी दानशीलता, संयम और विद्या के लिये प्रसिद्ध थे। अपनी राजनीतिके लिये वह प्रख्यात् थे। उनकी राजनीति सार्वमान्य हो रही थी। कविगण उनके गुणोंका बखान करनेमें अशक्य थे।[2] जैसे वह नीतिनिपुण थे,

1-ASM. 1943, pp. 113-115.

२-"श्री बुक्करायस्य बभूव मन्त्री श्री बैचदण्डेश्वरनामधेयः।
नीतिर्यदीया निखिलाभिनन्द्या निःशेषयामास विपक्षलोकम्॥ २॥
दानं चेत्कथयामि लुब्ध पदवीं गाहेत स्तानको।
वैदग्धं यदि सा बृहस्पतिकथा कुत्रापि [illegible]॥
क्षान्तिं चेत् [illegible] तया स्पृश्येत सर्व्वं सहा।

वैसे ही वीर पराक्रमी भी थे। एक वीरगल्में सम्भवतः उन्हींके लिये कहा गया है कि उन्होंने कोङ्कणके युद्धमें अपने शौर्यका परिचय दिया था—सैकड़ों कोङ्कणियोंको उन्होंने तलवारके घाट उतारा था। जिनेन्द्र भगवान्के वह अनन्य भक्त थे। हो सकता है कि उपर्युलिखित युद्धमें उन्होंने वीरगति पाई हो; क्योंकि वीरगल्में उनको स्वर्गसुख प्राप्त किया लिखा है।[1] यद्यपि उनकी सन्ततिका परिचय मिलता है, किन्तु उनके वंशके विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। उनके तीन पुत्र (१) मङ्गप्प, (२) इरुगप्प और (३) बुक्कण्ण नामक हुये थे। वे तीनों शील धर्मसे भूषित और रत्नत्रय धर्मके आराधक थे।

राजमंत्री इरुगप्प।

इनमेंसे ज्येष्ठ पुत्र मङ्गप्प अपने पिताके पश्चात् राजमंत्रिपद पर आरूढ़ हुये थे। वह महान् गुणवान थे और बहादुर भी थे। जैनागमके ज्ञाता और अणुव्रतोंके आराधक थे। उनकी धर्मपत्नी जानकी सीताके समान थी; जिनसे उनके दो पुत्र (१) बैचप्प, (२) और इरुगप्प नामक हुये थे।[2] सम्राट् हरिहर द्वितीयके राजमंत्रियोंमें

स्तात्र बैचपदण्ड नतुवतो शक्यं कवीनां कथं ॥ ३ ॥
तस्मादजायन्त जगदजयन्तः पुत्रास्त्रयः भूषित चारुशीलाः।
येभूषन्ऽजाचत मध्यलोका रत्नैस्त्रिभिर्जैन इवापवर्गाः ॥ ४ ॥ इत्यादि"

१–इका० ८ (3b) १५२. —जैसस्मि०, पृ० १६८.

२–"प्रतिभटकामिनी पृथुपयोधर हार हरो।
महितगुणोऽभवद् जगति मङ्गपदण्डपतिः ॥ ५ ॥
...मङ्गपदण्डपोऽथमतनोज्जैनागमानुमतः ॥ ६ ॥
इत्यादि—जैसस्मि० १८१.

एक मङ्गप दण्डनायक थे। सन् १३९१ व १३९८ के लेखोंमें वह 'महाप्रधान' कहे गये हैं। उनके आधीन अचण्ण वोडेयर होय्सल देशपर शासन करता था। इससे स्पष्ट है कि मङ्गप मैसूर प्रदेशके एक भागके शासनाधिकारी भी थे।[1] संभवतः यह दोनों मङ्गप एक ही व्यक्ति थे। मङ्गपके भाई इरुगप्प और बुक्कण्ण भी सेनापति थे। और दोनों ही जैनधर्मके अनुयायी थे।

सेनापति बैचप्प और इरुगप्प।

मङ्गपके दोनों पुत्र बैचप्प और इरुगप्प भी सेनापति थे। वे भी अपने पिताके समान जैनधर्मके स्तंभ थे। दोनों ही वीर योद्धा थे। उनमें इरुगप्प दण्डाधिपकी प्रसिद्धि अधिक थी। जब वह युद्ध क्षेत्रके लिये प्रयास करते थे तो उनकी घोड़ियोंकी खुरोंसे इतने रजकण उड़ते थे कि बादल बनकर आकाशमें छा जाते थे और सूर्य किरणोंको आच्छादित कर देते थे; जिसके कारण शत्रुके करकमल स्वतः मुंद जाते थे-शत्रु उनकी आनमान लेते थे।[2] इरुगेन्द्रका प्रभाव उनके जन्मसे ही व्यक्त हो रहा था-पुण्यशाली जीवकी महानता प्रकाशमें आते ही प्रगट होती है। इरुगप्पके जन्मके साथ ही उनके मित्रोंके यहां सम्पत्तिकी वृद्धि हुई थी और उनके शत्रु अपनी संपत्तिसे हाथ धो बैठे थे। वह बड़े [illegible] थे। निरन्तर चारों प्रकार अर्थात्-

---

१-ऐसीसा भा० ९९ पृ० ५ व इका०, १०।१०.

२-"यात्रायां ध्वजिनीपतेरिरुगदण्डमायस्य घाटीघटद्-
घंटा घोर खुर प्रहारततिभिः प्रकृष्टधूलिव्रजैः।
रुद्धे भानुकरेऽमन्द्रिमुकराम्भोजं च संकोचनम्-।
प्रापत्कीर्त्तिकुमुद्वती विकसनं [illegible] प्रतापातकः॥" जैशिसं० पृष्ठ १६२.

१—आहार, २—अभय, ३—भैषज्य और ४—ज्ञानका दान वह दिया करते थे। उनसे हिंसा, असत्य, चौर्य, परदारा संभोग और लोभ दुर्गुण दूर रहते थे। वह परम धर्मनिष्ठ जैन जो थे। वह सदा ही धर्म प्रभावनामें निरत रहते थे। जिनेन्द्रदेवकी कीर्तिगाथा सुननेमें उनके कान सदा ही लगे रहते थे। जिह्वा निरन्तर जिनेन्द्रके गुणगानसे पवित्र होती रहती थी। शरीर सदा उनके ही समक्ष नत-विनत रहता था और उनकी नाक केवल जिनेन्द्रचरणकमलोंकी परमसुगंधी सूंघनेमें मग्न रहती थी। जिनेन्द्रकी सेवाके लिए उनका सर्वस्व समर्पित था।[1] निस्सन्देह दण्डाधिप इरुगप राजभक्त धर्मात्मा और पक्के जैन थे। सन् १३८२ ई० में उन्होंने चिंगलपेट जिलेके तिरुप्परुत्तिकुणरु नामक ग्रामके प्राचीन "त्रैलोक्यनाथ बस्ती" नामक जिनालयके लिये भूमिदान दिया था। उससमय हरिहररायद्वितीय शासनाधिकारी थे। यह भूमि-दान इरुगपने राजकुमार बुक्कके पुण्य-वर्द्धन हेतुसे दिया था। इससे ज्ञात होता है कि इरुगपने पहले चिंगलपेटमें बुक्कके आधीन रहकर राजसेवाकी थी। उस मंदिरका मंडप भी सेनापति इरुगपने अपने गुरु पुष्पसेनकी आज्ञासे निर्माण कराया था। उपरान्त वह विजयनगर राजधानीमें जाकर सम्राट् हरिहरराय द्वि० की आज्ञाका पालन करने लगे थे।[2] उनको राजमंत्रीका महतीपद बड़ा प्रसिद्ध हुआ था। विजय-नगरमें उन्होंने नयनाभिराम कुन्थुजिनालय निर्माण कराया था जो १६ फरवरी सन् १३८६ ई० को बनकर तैयार हुआ था। इस मंदिरको उन्होंने श्री सिंहनन्द्याचार्यके उपदेशसे बनवाया था। आज कल इस

१—मेजिवं०, पृ० १६२। २—मेजैं०, पृ० ३०५।

ध्वस्त मंदिरको 'गाणिगित्ति बसति' कहते हैं। अनुमान किया जाता है कि किसी धर्मात्मा तेलिनने इस मंदिरका जीर्णोद्धार कराया था—इसलिये इस मंदिरकी प्रसिद्धि "गणिगित्ति" (तेलिन) का मंदिर नामसे हुई थी। इस मंदिरके सम्मुख एक दीपस्तंभ पर शिलालेख अङ्कित है जो संस्कृत भाषाके २८ श्लोकोंमें निबद्ध है। इसमें श्री सिंहनन्द्याचार्यकी गुरुशिष्य परम्परा निम्नप्रकार लिखी हुई है:—

मूलसंघ—नन्दिसंघ-बलात्कारगण—सारस्वतगच्छ
|
आचार्य पद्मनन्दी
|
भट्टारक धर्मभूषण प्रथम
|
अमरकीर्ति
|
सिंहनन्दी गणभृद्
|
भट्टारक धर्मभूषण
|
वर्द्धमान
|
भट्टारक मुनि धर्मभूषण द्वितीय

आचार्य पद्मनन्दीसे शिलालेखमें कुन्दकुन्दाचार्य अभिप्रेत हैं। उसमें उनके पांच नाम (१) कुंडकुंद, (२) वक्रग्रीव, (३) महामति, (४) एलाचार्य और (५) गृद्धपिच्छ प्रगट किये गये हैं।[1] इसके दशवें श्लोकसे विदित होता है कि उस समय श्रमण परम्परामें

[1] १—"आचार्यः कुंडकुंदाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः। एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पंचधा ॥ ४ ॥"

साधुवेषियोंका बाहुल्य हो गया था। ये केवल अज्ञानी पेट भरनेवाले साधुवेषी कहे गये हैं। भ० सिंहनन्दीको इस शिलालेखमें जिन धर्मरूपी पवित्र प्रासादका स्तम्भ कहा है। ३३ वें श्लोकसे प्रगट है कि दंडेश इरुगप्पाका धनुष लोगोंको सम्यक्चारित्रकी शिक्षा देता था। हरिहरनरेशकी राजलक्ष्मीकी श्रीवृद्धि उन्होंने की थी। सिंहनन्दीगुरुके चरणोंके वह भक्त थे। उनके सुचारु शासन-सूत्रसे विजयनगर समृद्ध-शाली हुआ था। वहांकी सड़कोंमें बहुमूल्य रत्न जड़े हुये थे। ऐसे विशाल नगरमें इरुगने कुंथुजिनालय बनवाया था। इरुगप्प केवल योद्धा और राजनीतिज्ञ ही नहीं थे वह एक महान् साहित्याश्रो और विश्वकर्मा भी थे। सन् १३९४ में उन्होंने कूणिगल नामक एक सुन्दर सरोवर निर्माण किया था। इस सरोवरके निर्माण सम्बन्धी शिलालेखसे स्पष्ट है कि इरुगप्प संस्कृत भाषाके श्रेष्ट विद्वान् थे। उन्होंने संस्कृत भाषामें "नानार्थरत्नाकर" नामक ग्रन्थकी रचना की थी। इरुगप्प न केवल हरिहर द्वितीयके राजमंत्री थे, बल्कि सम्राट् देवराय द्वितीयके शासनकालमें भी वह उस महती पद पर नियत रहे थे। सन् १४२२ में उन्होंने जब श्रवणबेल्गोल तीर्थकी यात्रा की तो गुरु श्रुतमुनिकी वंदना करके उन्होंने गोम्मटेश्वरकी पूजाके लिए बेल्गोल नामक ग्राम भेंट किया था। सन् १४४२ में यह जैन सेनापति गोवे (Goa) और चंद्रगुत्तिके वायसराय थे। इस प्रकार सेनापति इरुगप्प एक विश्वसनीय सैन्यनायक, चतुर शिल्पवेत्ता और सफल शासक एवं प्रासाद गुण—सम्पन्न साहित्य रचयिता प्रमाणित होते हैं। उनका राज्य-काल सर्वोपरि अर्थात लगभग साठ वर्ष (१३८३–१४४२ ई०) था

ठहरता है। दक्षिण भारतके इतिहासमें इतने दीर्घकालतक शासन सूत्र संचालनेवाला कोई दूसरा सेनापति नहीं दिखता! महान् थे इरुगप्प! किन्तु यह विदित नहीं कि उन्होंने किस स्थानपर किस समय अपना गौरवशाली इह जीवन समाप्त किया था।[1]

दण्डेश बैचप्प।

इरुगप्पके भाई दण्डेश बैचप्प भी एक धर्मात्मा जैनी थे। सन् १४२२ में श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखमें उनका उल्लेख 'भव्याग्रणी' रूपमें हुआ है। इरुगप्पकी भांति वह भी धर्ममार्गको पवित्र करनेवाले कहे गये हैं। (पवित्रीकृत—धर्ममार्गान्) जगद् विजेता भी वह कहलाते थे।[2] सन् १४२० में बैचदण्ड नायक सम्राट् देवराय द्वितीयके महाप्रधान थे। इस समय उन्होंने राजाज्ञानुसार बेलगोलके गोम्मटेशकी पूजाके लिये बेलमे ग्रामकी वृत्ति प्रदान की थी।[3]

कूचिराज प्रधान आदि राजकर्मचारी।

इरुगप्पके समकालीन राजकर्मचारियोंमें कूचिराज ब्राह्मण, महा प्रधान गोपचामूप, गुण्डदण्डनाथ प्रभृति प्रमुख व्यक्ति थे। श्री कूचिराज आचार्य चन्द्रकीर्तिदेवके शिष्य थे, जिनके गुरु मूलसंघ इंगुलेश्वर बलिके आचार्य शुभचंद्रदेव थे। इन्होंने सन् १४०० के लगभग कोपणमें चंद्रप्रभ भगवान् प्रतिष्ठित कराये थे।[4] महा प्रधान गोप चामूप निडुगल दुर्गके अध्यक्ष थे। वह जैनसंघके 'जैनेन्द्र-समयाम्बुधि-बर्द्धन-पूर्ण-चन्द्र' कहलाते थे। उनका वंश जैनत्वके लिये

१—मेजै०, पृ० ३०६—३०७. २—जैशिसं०, पृ० १९१.
३—मेजै०, ३०७. ४—मेजै०, १९८.

प्रख्यात था। उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। गुण्ड दण्डनाथ यद्यपि जैन नहीं थे, किन्तु उनकी उदार वृत्ति थी। अपने एक शिलालेखके मङ्गलाचरणमें उन्होंने जिनेन्द्रका भी उल्लेख किया है।[1]

कम्पणगौड़ और जैनधर्म।

बयिनाडके शासक मसनहल्लि कम्पणगौड़ भी उल्लेखनीय जैन राज्याधिकारी थे। उनके गुरु श्री पण्डितदेव थे। सन् १४२४ में उन्होंने होटहल्लि नामक ग्राम श्रवणबेलगोलके गोम्मटदेवकी पूजाके लिए भेंट किया था।[2] उन्हींकी तरह बल्लभराजदेव महाअरसु भी एक आदर्श जैन थे। वह महामण्डलेश्वर श्रीपतिराजके पौत्र और राजय्यदेव महाअरसुके पुत्र थे। उन्होंने चिन्नवर गोविन्द सेट्टिके आवेदन पर हेमारबसदि नामक जैन मंदिरके लिए भूमिदान दिया था।[3] हरिहर द्वि० के राजमंत्रियोंमें भी एक बल्लभराय महाराज थे, जो वीर देवरस और मल्लिदेवीके पुत्र थे। वह चालुक्य चक्रवर्ती कहलाते थे।[4] संभव है, उन्हींके वंशज बल्लभराजदेव हों। हरिहररायके एक अन्य राजमंत्री मुद्दय्य दंडाधिप थे।[5] उन्होंने संभवतः मधुर जैन पंडितको आश्रय दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि विजयनगरके राजकर्मचारियोंमें भी जैन धर्मकी मान्यता थी।

जनताका धर्म और केन्द्र स्थान।

इस प्रकार राज्याश्रयको पुनः प्राप्त करके जैन धर्म जनतामें भी चमक उठा था। जब कभी साम्प्रदायिक कट्टरतासे वैष्णवादि लोग

1-Ibid, 292. 2-Ibid, 309 ३-मेजै०, पृ० ३१०. ४-अमीशो०, १९१४ 5-Ibid. 5

जैनोंको त्रास देते थे तो राज्यसे उनका संरक्षण किया जाता था, यह पहले ही पाठक पढ़ चुके हैं। इस प्रकार जनता भी जैनधर्मके अहिंसक वातावरणमें सुख अनुभव कर रही थी। उस समय जैनकेन्द्रोंमें शृंगेरि सदृश भी स्थान थे जो पहलेसे जैनेतर मतोंके गढ़ बने हुये थे। प्रमुख जैन केन्द्रस्थान ये थे। श्रवणबेलगोल, कोपण, कुप्पटूर, उद्धरे, शृंगेरि, बन्दलिके, कोल्हापुर आदि।

श्रवणबेलगोल।

श्रवणबेलगोल पुरातनकालसे ही एक महान् तीर्थरूपमें मान्य था। जब जैनों और वैष्णवोंमें परस्पर असहिष्णुभाव बढ़ गया तो सम्राट् बुक्करायने दोनोंमें सन्धि करादी थी, यह लिखा जाचुका है। इस समय श्रवणबेलगोलके गोम्मटदेवकी रक्षाका भार श्री वैष्णव नेता तातय्य पर पड़ा था जो तिरुमलेके निवासी थे। श्री गोम्मटदेवकी विशाल मूर्ति उनके संरक्षणमें रहकर आज भी लोकमें भारतीय कला और जैन आदर्शको व्यक्त कर रही है। साम्पदायिक-सहिष्णुभावका यह कैसा सुखद दृष्टांत है। उस समय सभी जैनी सानंद श्रवणबेल्गोलकी यात्रा करते थे। बीस सिपाही गोम्मटेश्वर-मूर्तिकी रक्षाके लिए हर समय नियत रहते थे।[१] सम्राट् बुक्करायने वहांके सभी मंदिरोंका जीर्णोद्धार कराकर उन्हें नयनाभिराम बना दिया था। देवराय प्रथमकी रानी भीमादेवीने यहां ही मंगायी-बस्तीमें शांतिनाथस्वामीकी मूर्तिको प्रतिष्ठापित किया था। इस मंदिरको राजनर्तकियोंमें शिरोमणि मंगायी नामक नर्तकी (Dancing girl) ने बनवाया था। उनके गुरु

१-मैबे०, २९१.

अभिनव चारुकीर्ति पंडित थे।[1] नञ्जरायपट्टनके श्रावक संघने यहांकी यात्रा करके बलिकवाडका जीर्णोद्धार कराया था।[2] सचमुच श्रवण-बेलगोल उससमय विजयनगर साम्राज्यमें प्रमुख जैन तीर्थ माना जाता था और दूर दूरसे यात्रीगण वन्दना करने आते थे। सन् १३९८में उस प्रदेशके शासक हरियण और माणिकदेव थे, जिनके गुरु श्रवण-बेलगोलके चारुकीर्ति पंडित थे। सन् १४००में तो श्रवणबेलगोलकी यात्राको बहुत ही अधिक संख्यामें यात्री आए थे। यह बात वहांके शिलालेखोंसे स्पष्ट है।[3] श्रवणबेलगोलके जैनोंकी एक खास बात यह भी थी कि उन्होंने तत्कालीन राजनीतिसे अपनेको अछूता नहीं रक्खा था। राजनीतिसे अछूता रहकर कोई भी समुदाय महत्वशाली और शक्तिपूर्ण नहीं बन सकता। श्रवणबेलगोलके जैनी "जैनं जयतु शासनं" सूत्रको प्रकाशमान और प्रभावशाली बनाये रखनेके लिये जैनोंकी पुरातन रीति नीतिको अपनाये रहे। राजशासनसे उनका सम्पर्क रहा। उन्होंने राज्यकी छोटी-सी छोटी बातको भी नहीं भुलाया। सन् १४०४ में जब सम्राट् हरिहरराय द्वितीयका स्वर्गवास हुआ, तो उन्होंने इस घटनाकी स्मृतिमें एक मार्मिक शिलालेख रचा डाला। ऐसे ही सन् १४४६ में देवराय द्वि०की निधन-वार्ताको दो शिला-लेख सुरक्षित किये हुए हैं।[4] इन शिलालेखोंसे जैनोंके राजप्रेमका परिचय और सम्बंध स्पष्ट होता है।

निस्सन्देह श्रवणबेलगोल भारत—विख्यात् तीर्थ होरहा था। दूर दूर देशोंसे धनाढ्य सेठ लोग संघ लेकर श्रवणबेलगोलकी यात्राके

1-Ibid 299. 2-Ibid 314. ३-मेज०, ३२४. 4-Ibid.

लिये आते थे और पूजा करके दान देते थे। सन् १४०७ में ओजकुलके कतिपय यात्री वन्दनाके लिये आये थे। सन् १४०९में गंगवतीके निवासी और आचार्य चन्द्रकीर्तिके शिष्य मायण्णने बेल्गोलके गंगसमुद्र नामक सरोवरकी भूमि खरीदकर गोम्मटस्वामीकी पूजाके लिये भेंट की थी। मायण्ण भव्य श्रावक थे और सम्यक्त्वचूड़ामणि कहलाते थे। इस दानके समय श्रवणबेल्गोलके पट्टश्रेष्ठीगण और दो गौड़ उपस्थित थे। सन् १४१० में श्री पंडितदेवके शिष्य बस्तायिने वहां वर्द्धमानस्वामीकी मूर्ति स्थापित कराई थी। सन् १४१७ के लगभग बिडित नामक स्थानसे करिय गुम्मटसेट्टि एक संघ लेकर श्रवणबेल्गोल पहुंचे थे और उनने रत्नत्रय व्रतका उद्यापन करके संघका आदर-सत्कार किया था।[1]

विजयनगर साम्राज्यमें उत्तर भारत मुख्यतः मारवाड़से बहुतसे हिन्दू जाकर बस गये थे—उन लोगोंका उधर आना जाना बना ही रहता था। इनमें बहुतसे जैनी भी थे। श्रवणबेल्गोलके लेखोंमें इन मारवाड़ी जैनोंका विशेष उल्लेख है। सम्राट् देवराय द्वितीयके समयमें इन लोगोंका उल्लेख "उत्तरापथ-नगरेश्वरदेवतोपासक" रूपमें हुआ है। सन् १४८६ में मारवाड़ निवासी मूलसंघी श्री अगसुजे कगद नामक धर्मात्मा सज्जनने एक जिनप्रतिमाकी स्थापना श्रवणबेल्गोलमें की थी।

सन् १४८८ में पुरस्थान नामक स्थानसे गोमट भूपाल पञ्जस-बाल और ब्रह्मचारी कदिकवंशी अपने सम्बंधीजनों सहित श्रवणबेल्गोलकी वन्दनाके लिए आये थे। उस विषमकालमें उत्तर भारतसे यात्रियोंका

१-मेजै०, ३२५.

वंदनाके लिये आना उस तीर्थके महत्व और यात्रियोंकी तीर्थभक्तिकी द्योतक है। सन् १४९० में भी मारवाड़से भट्टारक अभयचंद्रके शिष्य ब्रह्म धर्मरुचि और ब्रह्म गुणसागर पंडित श्रवणबेलगोलकी यात्रा करने आये थे।

सन् १५०० में श्रवणबेलगोलके मठाधीश श्री पंडितदेवके प्रयाससे गोम्मटेश्वरकी विशालमूर्तिका महामस्तकाभिषेक उत्सव समारोह मनाया गया था उस समय स्वयं गुरुजीने और बेल्गुलनाडुके नागगौंड तथा मुत्तग होन्नेनहल्लके गवुडगलने मठ एवं मङ्गायी–बस्तिके लिये दान दिये थे। सारांश यह कि श्रवणबेलगोल उस समय सांस्कृतिक सम्पर्कका केन्द्र बना हुआ था। उत्तर और दक्षिण–दोनों ही देशोंके जैनी वहां आते और परस्पर मिलते जुलते थे।[1]

कोपण तीर्थ।

श्रवण बेलगोलके उपरांत दक्षिण भारतमें दूसरा प्रधान तीर्थ कोपण था; यह पाठकोंको पहले ही बताया जा चुका है। विजयनगर साम्राज्य–कालमें भी कोपणका धार्मिक और सांस्कृतिक महत्व उल्लेखनीय रहा था। इस मौर्यकालीन तीर्थकी महत्ता लोगोंके मन चढ़ी हुई थी। विजयनगर सम्राट् कृष्णदेवरायके समयमें कोपण राज्य–सीमा मानी जाती थी। उससमय कोपणके शासक तिम्मप्पय्य नायक थे। वह केशवोपासक थे। उन्होंने सन् १५२१ में कोपणके चेन्नकेशव मंदिरको दान दिया था। यह मंदिर मूलतः जैनमंदिर था; क्योंकि इसकी दीवालों पर अभी भी जैन मूर्तियां बनी हुई हैं।

१. मेजै०, पृष्ठ १२६

विजयनगर कालमें वह शैवमंदिर बना लिया गया। इस घटनासे कोपण पर शैवोंका प्रभाव व्यक्त होता है। प्राचीन कालकी तरह कोपण एक मात्र जैनतीर्थ और जैन-सांस्कृतिक-केन्द्र तब न रहा। फिर भी वहां जैनका प्राबल्य था। इस समयके प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री वादी विद्यानन्दजीने अन्य स्थानोंके अतिरिक्त कोपण तीर्थमें भी बड़े २ जैन उत्सव रचाये थे और अपूर्व धर्म प्रभावना की थी। जैन व्यापारी और श्रेष्ठी निरन्तर इस तीर्थकी श्री वृद्धि करनेमें लगे हुये थे और श्री वादी विद्यानन्द, श्री माघनन्दि एवं भ० माघवचंद्र सदृश जैनाचार्य वहांसे सदैव धर्मामृत बरसा और अहिंसा संस्कृतिका प्रसार किया करते थे। सन् १४०० में सकल-कला-प्रवीण और श्री शुभचंद्रदेवके प्रमुख शिष्य चन्द्रकीर्तिदेवने वहां चन्द्रप्रभजिनकी प्रतिमा इस भावसे निर्माण कराई थी कि वह उनकी निषधि पर विराजमान की जावेगी।[1] सचमुच श्रावकगण इस तीर्थ पर आकर साधुजनोंकी संगतिमें धर्म सेवन करते थे और उनके निकट व्रतग्रहण और वृतोद्यापन करके आत्महित साधते थे। ऐसे ही एक समय जब कोपणमें मूलसंघ देशीयगण पुस्तकगच्छ इंगुलेश्वर शाखाके आचार्य माधवचन्द्र भट्टारक विराजमान थे तब उनके निकट इामवर्ग नामक पाटनगरके कुलाग्नि-सेनबोव अधिकारी देवण्ण आये। देवण्ण अचण्णयके सुपुत्र धर्मात्मा श्रावक थे। भ० माधवचंद्र उनके गुरू थे। उन्होंने गुरूसे दो व्रत (१) सिद्धचक्र और (२) श्रुतपंचमी नामक ग्रहण करके पालन किये थे। अब उन व्रतोंका उद्यापन करके उन्होंने

१. मेजै०, पृ० १९८-१९९.

पंचपरमेष्ठीकी एक मूर्ति प्रतिष्ठित कराई थी।[1] वहां ही एक समय माघनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती भी रह रहे थे। उनके प्रिय शिष्य बोप्पण और उनकी पत्नी मलौव्वेने वहां एक चौवीसी–पट्ट स्थापित किया था।[2] सम्राट् कृष्णदेवरायके राज्यकालमें सं० १४४३ शाके (१५२१ ई०) में भंडारी अप्परसय्यके पुत्र भंडारद तिम्मप्पय्यने हिरिय-सिन्दोगि नामक ग्रामका दान कोपण तीर्थके लिये किया था।[3] ईस्वी अठारहवीं सदीमें देवेन्द्रकीर्ति भट्टारकके शिष्य वर्द्धमानदेवने वहां छाया–चन्द्रनाथस्वामीकी जिनमूर्ति निर्मापित कराई थी।[4] इस प्रकार १८वीं शताब्दि तक कोपण जैनधर्मका केन्द्र रहा था। उपरांत कालकी विषमता और जैनगुरुओंके अभावमें उसका ह्रास हो गया।

कुप्पटूर।

कुप्पटूरकी प्रसिद्धि भी जैन केन्द्रके रूपमें इस समय तक विशेष हो गई थी। यह पहले ब्राह्मणोंका केन्द्र था, किन्तु कदम्ब रानी माललदेवीके रागसे यह जैनोंका भी प्रमुख स्थान हो गया। जैन मुनिगण यहां आकर रहते और धर्मोपदेश देकर अहिंसा संस्कृतिको आगे बढ़ाते थे। चौदहवीं शताब्दिमें वहां श्रुतमुनि रहते थे। उनके शिष्य देवचन्द्र एक प्रसिद्ध कवि थे, जिनकी प्रशंसा अच्छे २ कवीन्द्र करते थे। श्रुतमुनि भी साहित्य रचना करते थे। सन् १३६५ ई. में इन्होंने ही संभवतः मल्लिषेण सूरिकृत सज्जन चित्तवल्लभकी कर्णाटकी व्याख्या लिखी थी। ये देशीयगणसे सम्बन्धित थे। देवचन्द्रजीने

१–कोपण, पृ० १२ २–कोपण, पृ० १२, ३–कोपण, पृ० १०, ४–कोपण, पृ० ८.

कुप्पटूरमें एक जिनमंदिरका जीर्णोद्धार कराया था। सन् १३६७ में उनका समाधि मरण हुआ था। सन् १४०२ में कुप्पटूरकी प्रसिद्धि दूर२ तक फैल गई थी। नगरखंडप्रदेशमें वह प्रमुख नगर था। यहांके एक जिनमंदिरको कदम्ब राजाओंसे शासन पत्र प्राप्त था। उसी चैत्यालयमें प्रसिद्ध चन्द्रप्रभ रहते थे, जो पार्श्वनाथके बांधव थे। उनके पिता दुर्गेशने पंडितदेवको उनका गुरु निर्धारित किया था। इन विद्वानों द्वारा वहां निरन्तर जैनधर्मकी प्रभावना होती थी। सन् १४०८ ई०के एक शिलालेखमें कुप्पटूरकी प्रशंसामें लिखा है कि "कर्णाटकदेश सब देशोंमें सुन्दर था। उस कर्णाटक प्रदेशमें गुत्तिनाडु था, जो १८ कम्पणोंमें विभक्त था। उस कम्पणोंमें सर्व प्रसिद्ध नगर खंड नाडु था। कुप्पटूर उसकी ही राजधानी थी। शिलालेखमें कुप्पटूरको नगरखंडका भूषण कहा है, जो अपूर्व चैत्यालयों, कमलसरों, कामवाटिकाओं और गंधशालि चांवलोंके खेतोंसे सुशोभित था। कुप्पटूरका यह विशाल वैभव भव्य श्रावकोंकी उदारताका ऋणी था। श्रावकगण ऐसे संकीर्ण-हृदय नहीं थे कि अपने नामके लिये रुपया केवल साम्प्रदायिक कार्योंमें खर्चते हों, बल्कि वे लोकहितके कार्योंमें अपने धनका सदुपयोग करते थे। उस समय श्रावकगण देशकी राजनीति और समृद्धिवर्द्धक कार्योंको करनेके लिये अग्रसर हो रहे थे। जैनी केवल शासक निर्माता (King Makers) ही नहीं, नगरनिर्माता

१-"भव्य-जन-धर्मावारदिं संततं सले-चैत्यालयदिन्दे पू-गालगलिन्द-उद्यानदिं गन्धशालि-लसत्-क्षेत्र निकायदिन्दे रमणीयं बेत्तु-विभुराजिकुं पू-[illegible] पू-गिंड पू-मर [illegible] [illegible]-के [illegible]-चैत्यालयद मुंहे [illegible] [illegible] मदव, ऐरे-मेरेवक आ-परिकदोलु। -शका० ८-१०८।

भी बने हुये थे। विजयनगर साम्राज्यके प्रमुख नगरोंके निर्माणमें जैनोंका हाथ ही सर्वोपरि था। देशके वे बड़े व्यापारी और उद्योगी लोग थे। अपने धर्मकी प्रभावना एवं लोकहितके कार्योंको करनेमें वे एक दूसरेसे स्पर्द्धा किया करते थे।[1]

स्तवनिधि।

स्तवनिधि सोहराब तालुकमें एक प्रमुख नगर और जैनधर्मका केन्द्र था। वहांके शासकगण जैनधर्मानुयायी होनेके साथ साथ उसके अनन्य प्रचारक थे, यह पहले लिखा जाचुका है। स्तवनिधि समृद्धिशाली नगर था, जिसकी तुलना एक शिलालेखमें इन्द्रकी नगरी अलकावतीसे की गई थी।[2] वहां नयनाभिराम जिनमंदिर बने हुये थे, जिनमें निरंतर जैनाचार्योंका धर्मोपदेश, जिनेन्द्रकी पूजा-अर्चा और दान-पुण्य हुआ करता था। श्रावक श्राविकायें निरंतर धर्म-नियमोंका पालन करके सन्यासमरण किया करते थे। उनकी स्मृतिमें निषधि वीरगल् बनाये जाते थे। ऐसा ही एक निषधिकल वहांसे मिला था, जिसमें एक भव्य श्राविकाका चित्रण किया गया है।[3] निस्सन्देह स्तवनिधिकी प्रसिद्धि इतनी अधिक थी कि शैव ब्राह्मणोंने भी अपने एक केन्द्रका नाम 'तवनिधि' रक्खा था, जोकि हस्सन जिलेमें था। श्री नयसेनने अपने 'कन्नड धर्मामृत' (१११२ ई०)में संभवतः इसी स्तवनिधिका उल्लेख किया है और लिखा है कि वहांके पार्श्वनाथस्वामी (मूर्ति) प्रसिद्ध थे।[4] यद्यपि यह स्तवनिधि सोहराब

१-मेजै०, पृ० ३३३-३३४. २-मेजै० पृ० ३३५. ३-मैआरि०, १९४२ नं० ५०. 4-JA., XI. p. 3. 5-Ibid, X. p. 51.

तालुकमें था, परन्तु एक अन्य स्तवनिधि बेळगाम जिलेके निपाणी नामक स्थानसे दक्षिण दिशामें दो मील दूर है। वहांपर भी जैन मंदिरोंके खंडहर उसे प्राचीन स्थान सिद्ध करते हैं।[1] सत्रहवी शताब्दिमें इस स्तवनिधिकी गणना तीर्थोंमें होती थी। यह बात श्वेताम्बर साधु शीलविजयके निम्नलिखित उल्लेखसे होती है जो उन्होंने अपनी 'तीर्थमाळा" में लिखा है:—

"चारणगिरि नवनिधि पास, रायबाग हुकेरी वास।
देव घणा श्रावक धनवंत, पंचमना तहं बहु सतवंत ॥१०१॥
पंचम वनीक छीपी कंसार, वणकर चोथो श्रावक सार।
भोजन भेळा कोइ नवि करि, दीगंबर श्रावक ते सिरि॥१०२॥
शिवातणी सीमि वळी जैन, मरहठ देसि रहि आधीन।
तुळजादेवी सेवि घणा, परता पूरि सेवक तणा ॥१०३॥"

इस उल्लेखसे उस समय पंचम, छीपी, कंसार; वणकर और चतुर्थ जातिके श्रावकोंका अस्तित्व भी प्रमाणित होता है, उनमें वात्सल्य धर्मका इतना अभाव था कि वे साथ २ बैठकर भोजन भी नहीं कर सकते थे। यह वर्णाश्रमी हिन्दूधर्मका प्रभाव था कि जिसने श्रावकके मूल सम्यक्त्व गुणोंसे भी जैनोंको बहिर्मुख कर दिया था। उस समयके यह जैनी रायबागके निकट उपस्थित स्तवनिधिको तीर्थवत् मानते थे। मालूम ऐसा होता है कि सोहगाव जिलेके प्राचीन स्तवनिधि तीर्थकी प्रसिद्धिको सुनकर और वहां पहुंच न सकनेके कारण उपरांत महाराष्ट्र देशमें उसकी पुनः स्थापना की गई थी। वहांकी पार्श्वनाथ मूर्ति

1-JA., X. 49-52.

अतिशयपूर्ण होनेके कारण 'चिन्तामणि पार्श्वनाथ' नामक प्रसिद्ध हुई थी। वहांकी एक अन्य पार्श्वमूर्ति जो किसी लक्ष्मीसेन भट्टारकको बेलगाम जिलेके हुकेरि ग्रामके पास मिली थी, उसको उन्होंने सन् १८८० ई० में लाकर एक बड़े प्रतिष्ठा महोत्सवके साथ स्तवनिधिमें विराजमान किया था। इस मूर्तिको श्री वीरनन्दि सिद्धांतचक्रवर्तीके शिष्य सरदार सेनरसकी दादी कच्छेयादेवीने निर्माण कराया था। यह स्तवनिधि एक पहाड़ी पर स्थित है। पहाड़ी पर ही पत्थरके परकोटेमें पांच जिनमंदिर बने हुए हैं। परकोटेके भीतर एक अच्छासा मानस्तंभ बना हुआ है। यह मुख्य मंदिरके सामने स्थित है। इस पहाड़ीके पास ही ब्रह्मनाथ और पद्मावतीदेवीके भी मंदिर हैं। इस तीर्थकी कुछ ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक मासकी अमावस्याको उत्तरीय कर्णाटक और दक्षिण महाराष्ट्र प्रदेशके जैनी वन्दना करने आते हैं। वर्षान्तमें वहां एक बड़ा मेला भी लगता है। अब तो वहां एक जैन गुरुकुल भी स्थापित होगया है।[1] सारांशतः स्तवनिधि एक प्रधानकेन्द्र दो क्षेत्रोंमें रहा था।

उद्धरे।

सोहराब तालुकमें दूसरा प्रधान नगर उद्धरे भी जैनकेन्द्र था। होयसल राजाओंके समयसे ही वहां जैन धर्मकी प्रधानता थी। आजकलका उद्रि ही प्राचीन उद्धरे अथवा उद्धवपुर है। सम्राट् हरिहरराय द्वितीयके राज्यकालमें उद्धरेके जैन नेता बैचप्प थे। वह बहु प्रसिद्ध धर्मात्मा और देशभक्त थे। सन् १३८० ई० के एक शिलालेखसे

1-Ibid.

स्पष्ट है कि जब माधवराय बनवासे १२००० के प्रान्तीय शासक थे, तब एक उपद्रव उठ खड़ा हुआ। कोंकण प्रदेशके कतिपय नीच पुरुषोंने विद्रोह कर दिया। राजसेनाका नेतृत्व बैचप्प कर रहे थे। वह बड़ी बहादुरीके साथ कोंकणियोंसे लड़े और इसी युद्धमें वीरगतिको प्राप्त हुये। उन्होंने विद्रोहियोंको परास्त करके जिनेन्द्रके चरणोंमें लीनता प्राप्त की। महान् थे वह!

सेनापति सिरियण्ण।

बैचप्पके पुत्र सिरियण्ण भी जैनधर्मके अनन्य भक्त थे। उनके पिताने जहां देश और राजकी सेवामें प्राणोत्सर्ग किये थे, वहां सिरियण्णने धर्मप्रभावनाके लिये अपनी ऐहिक जीवनलीला समाप्त की थी। उनकी प्रकृति बचपनसे ही निवृत्ति-परक थी। उनका विवाह हुआ। अपनी पत्नी बरदाम्बिकेके साथ उन्होंने भोग भोगे। किन्तु वह दृढ़ सम्यक्त्वी थे। भोग उनको भुजंग से डसते थे। एक दिन उन्होंने अपने गुरु मुनिभद्रसे निवेदन किया कि वह उसको परम सुखधाम—मोक्ष प्राप्त करनेकी आज्ञा दें। गुरुने उनको भव्य जानकर साधु दीक्षा दी। साधु सिरियण्ण धर्मसाधनामें लीन होगये। सन् १४०० ई० में उन्होंने समाधिमरण किया। उससमय आकाशसे पुष्पवर्षा होरही थी और भेरि, दुंदुभि एवं महामुरज बाजे बज रहे थे। वह जिनेन्द्रचरणोंमें लीन होगये।[1]

'उद्धरे-वंश' गुरु परम्परा।

यहां जैन गुरु परम्परा अक्षुण्णरूपमें प्रवाहित रही थी। इसलिये

१-मेजै०, पृ० ३२५-३२६.

इन गुरुओंकी परम्परा 'उद्धरे-वंश' के नामसे प्रसिद्ध होगई थी। इस गुरुकुलमें मुनि भद्रदेव प्रख्यात् थे। उन्होंने हिमुगल बस्तिका निर्माण किया और मुलुगुंडके जिनमंदिरका विस्तार बढ़ाया था। उसका सम्बंध सेनगणसे था—सेनगणके आचार्य इन यतिराजका आदर करते थे। उन्होंने तपश्चरण करके समाधिमरण किया था। अन्तसमय भी वह आगमका व्याख्यान करते रहे थे। उनके समाधि स्थल पर उनके शिष्य वारिषेणदेवने एक निषधि बनाई थी।[१]

हुलिगेरे ।

सोहराब तालुकमें एक अन्य जैनकेन्द्र हुलिगेरे नामक था। सन् १३८३ ई० के एक शिलालेखसे ज्ञात होता है कि हुलिगेरेके 'सालुमूले'—अर्थात् वणिक संघ अपनी उदारताके लिए प्रसिद्ध थे। हुलिगेरेमें इडेनाड, कोण्डरडे, हानुगल, चिक्कजिगलिगे, हिरिया-जिगलिगे, बालचौगलनाड, होसनाड, कम्बुनालिगे, ऐडावलिगे, हिरिय-महलिगे, चिक्कमहालिगे, जम्बेयहलिनाड, हेदनाड, कुञ्जिनाड, होरनाड, बलेनाड, गुत्तिअष्टादशकम्पण, वोलिगेरेनाड, होन्नत्तिनाड, हलसिगे इत्यादि स्थानोंके वणिक एकत्रित हुये थे। उन सबने मिलकर कुलिगे-रेकी संकलिबसदिको दान दिया और शासनपत्र लिखा था। उससमय प्रधान-दण्डाधिप मुद भी उपस्थित थे। मुद दण्डनायक 'पृथ्वीसेट्टि' कहलाते थे। वह जैन श्रेष्टियोंमें उस समय एक रत्न थे। इन वणिक संघोंके अधिकांश सदस्य यद्यपि इससमय वीर शैव धर्ममें दीक्षित हो गये थे, परंतु वे अपने पूर्वजोंके धर्म जैनमतको भूल नहीं गये थे।[२]

१-वही, पृ० ३३७. २-वही, पृ० ३३७-३३८.

रायदुर्ग और दानवुलपाडु।

बेल्लारी और कुड्डप्पह ज़िलोंमें रायदुर्ग और दानवुलपाडु जैन केन्द्र थे। रायदुर्गमें मूल संघके आचार्योंका पट्ट था। इस संघके सारस्वत गच्छ, बलात्कारगण कुन्दकुन्दान्वयके आचार्य अमरकीर्तिके शिष्य मुनि माघनन्दि थे। उनके उपदेशसे सम्राट् हरिहर प्रथमके शासन कालमें जैन श्रेष्ठि भोगराजने शान्तिनाथ जिनेश्वरकी प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी। रायबागसे उपलब्ध प्रसिद्ध मूर्तियोंके आसन लेखसे मूलसंघके चन्द्रभूति और यापनीय संघके चन्द्रेन्द्र, बादय्य और तिम्मण्ण नामक श्रावकोंका पता चलता है। इससे भी रायदुर्ग केन्द्र होना स्पष्ट है। दानवुलपाडुके जैन व्यापारी प्रसिद्ध थे। वहां उनकी निषधि मिली है।[१]

शृङ्गेरि व नरसिंहराजपुर।

शृङ्गेरि होय्सल कालसे ही जैन केन्द्र था। वह नरसिंहराजपुरसे प्राचीन था। नरसिंहराजपुरकी प्रसिद्धि तो चौदहवीं शताब्दीके प्रारंभसे ही हुई है। वहां 'शान्तिनाथ बस्ती' नामक एक जिनमंदिर है, जिसके मूलनायक शान्तिनाथकी मूर्ति सन् १२०० की प्रतिष्ठित मानी जाती है। इस मूर्तिकी स्थापना उद्धरेकी चगियब्बेगन्ति नामक आर्यिकाकी शिष्या चन्दियक्काने कराई थी। सोलहवीं शताब्दी तक नरसिंहराजपुर एक समृद्धिशाली जैन केन्द्र था। वहींकी 'चन्द्रनाथ बस्ती' नामक जिनमंदिरमें विराजमान चतुर्विंशतितीर्थंकर और अनन्त तीर्थंकरकी मूर्तियोंके आसन-लेखोंसे स्पष्ट है कि बोगारदेवी सेट्टिके

१-मेजै०, पृ० २२८-२२९.

पुत्र दोड्डुग सेट्टिने चतुर्विंशति तीर्थंकर मूर्तिकी प्रतिष्ठा कराई थी और नेमिसेट्टिके पुत्र गुम्मण सेट्टिने अनन्त तीर्थंकरकी मूर्ति प्रतिष्ठित कराकर सिंगनगद्दे के जिन मंदिरमें विराजमान की थी।[1] चन्द्रनाथबस्तीके मूलनायक चन्द्रप्रभकी मूर्ति श्वेतपाषाणकी इतनी सुंदर है कि मानों आठ वर्षका बालक ही बैठा हो—वह ढाई फीट अवगाहनाकी है। वह भद्रा नदीमेंसे निकाल कर वहां विराजमान की गई थी।

'पार्श्वबस्ती' मंदिर।

शृङ्गेरिकी पार्श्वनाथबस्ती नामक जिनमंदिर १२वीं शताब्दिका है, जो नगरके मध्यभागमें है और जैनोंके प्रभुत्वको व्यक्त कर रहा है। १६वीं शताब्दिके मध्य तक शृङ्गेरिमें जैन यात्रीगण आते रहे थे। सन् १५२३ में देवनसेट्टिने अनन्तनाथकी प्रतिमा इस मंदिरमें विराजमान की थी। बोम्मरासेट्टिने चन्द्रनाथमूर्तिकी प्रतिष्ठा कराई थी।[2]

महगिरिमें सन् १५३१ में एक जिनमंदिर था, जिसको योविदातिमरयकी पत्नी जयमूने दान दिया था। उनके गुरु मल्लिनाथ देव थे।[3]

जिनेन्द्रमंगलम्।

इनके अतिरिक्त छोटे छोटे जैन केन्द्र भी विजयनगर साम्राज्यमें बिखरे हुये मिलते थे। सन् १५३३-३४ के एक शिलालेखसे विदित है कि सम्राट् अच्युत देवरायके शासनकालमें मुत्तूरकुरंभ प्रांतके अन्तर्गत जिनेन्द्रमंगलम् और अञ्जुकोट्टै उल्लेखनीय जैनकेन्द्र थे। जिनेन्द्रमंगलम् नाम जैनत्वका बोधक है। वैसे यह ग्राम कुरुम-

१-वही, पृ० ३५६. २-वही, पृष्ठ ३५७. ३-वही, पृष्ठ ३५८.

डिमिदि कहलाता था। इन केन्द्रोंसे तामिल देशमें जैनधर्मके अस्तित्वका पता चलता है। तामिलनाडमें कुरुगोडुका जैन मन्दिर प्रसिद्ध था। उसको रामराज ओडेयाके पौत्र और लिङ्गराजय्यके ज्येष्ठ भ्राता रामराजय्यने अपने पिता मल्लिराज ओडेयाके पुण्य हेतु भूमिदान दिया था। यह दान सम्राट् सदाशिवरायके शासनकालमें दिया गया था। चिक्कहनसोगेके आदिनाथ नामक बस्ती जिनमंदिरमें आदीश्वर, शांतीश्वर और चन्द्रनाथ तीर्थंकरोंकी मूर्तियां ब्राह्मणोंके नेता चिक्कमय्यके पुत्र और चारुकीर्ति पंडितदेवके शिष्य पंडितय्यने १५८५ ई० में प्रतिष्ठित कराकर विराजमान कराई थीं। चिक्कहनसोगे इस समय भी जैनोंका केन्द्र बना हुआ था।[1]

बारकुरु, मूलिक आदि केन्द्र।

तुलुवदेशमें भी जैनोंके केन्द्रस्थान बारकुरु, मूलिक, पडुपणम्बूरु, हट्टिअङ्गडि और कापू नामक नगर थे। बारकुरु तो तुलुवदेशकी राजधानी भी रही थी। वहांका आदीपरमेश्वर बसदि नामक जिनमंदिर प्रसिद्ध था। उस मंदिरको सांतार नरेश भैरवने सन् १४०८ में दान दिया था। सन् १४९९-१५०० के मध्य उसी मंदिरको श्री चारुकीर्ति पंडितदेवने भी दान दिया था। मंगलोर तालुकामें मूलिक और पडुपणम्बूरके जैन मंदिर उल्लेखनीय थे। पडुपणम्बूरकी चेलंगाडि बसदिको सन् १५४२ में किसी राजकुमारने दान दिया था। हट्टिअङ्गडिमें लोकनाथेश्वर बसदि प्रख्यात थी। जैन तीर्थंकरकी प्रसिद्धि लोकनाथेश्वर रूपमें होना उस समय उस क्षेत्रमें

१-मेजै०, पृ० ३५८-३५९।

जैन धर्मके महत्वशाली अस्तित्वको प्रमाणित करती है । इस मंदिरको १६ वीं शताब्दिके अन्तिमपादमें विजयनगरके शासक (Viceroy) ने दान दिया था। कापू उडिपि तालुकमें था और वह भी हट्टि-हल्लिके समान ही प्रमुख जैन केन्द्र था। यह किन्हीं हेग्गडे सरदारकी राजधानी था। सन् १५५६ में पांगालवंशके महहेग्गडे जिनधर्मके अनन्य भक्त और उपासक थे। उन्होंने क्राणूगणके आचार्य देवचन्द्रदेवको मल्लारु नामक ग्राम भेंट किया था। इन देव-चंद्रदेवके गुरु मुनि चंद्रदेव और दादागुरु अभिनववादि कीर्तिदेव थे। यह ग्राम कापूके प्रसिद्ध जिनेन्द्र धर्मनाथकी पूजाके लिए दान किया गया था। शिलालेखमें कापूकी तुलना इस दानके कारण ही बेलगोल, कोपण और ऊर्जन्तगिरि (गिरिनार) से की गई है। इस दानको भङ्ग करनेवाले जैनके लिये जो शापका भय दिया है, उससे स्पष्ट है कि उस समय बेळगोलके गोम्मटनाथ, कोपणके चन्द्रनाथ और ऊर्जन्तके नेमीश्वर प्रसिद्ध थे। कापूके जैन इन पवित्र स्थानोंसे परिचित थे।[1]

कारकल ।

कारकल भी इसी समय एक प्रमुख जैन केन्द्र था। जिनदत्तके वंशज सांतार राजाओंने ईस्वी चौदहवीं शताब्दिके आरम्भमें कारकलको अपनी राजधानी बनाया था। यहांके शासक लोकनाथरसने तुलुदेशमें जैनधर्मका खूब प्रचार किया था। बल्लालरायचित्तचमत्कार श्री चारुकीर्ति पंडितदेव उनके गुरु थे। लोकनाथरसकी बड़ी बहनें बोम्मलदेवी और सोम्मलदेवी थीं। उन्होंने अलुप अधिकारी आदि राजकर्मचारियोंके

१-मेजै०, पृ० ३५९-३६०।

साथ सन् १४३४ में कारकलकी शांतिनाथ बस्तीको दान दिया था, जिसे मूलसंघकणूरगणके भानुकीर्ति मलधारीदेव पट्टशिष्य कुमुदचंद्र भट्टारकदेवने निर्माण कराया था। लोकनाथरसके 'समस्तभुवनाश्रय श्रीपृथ्वीवल्लभ' और महाराजाधिराज विरुद उनको एक स्वाधीन शासक प्रमाणित करते हैं। इनके कुछ समय पश्चात् कारकलके शासकगण यद्यपि लिंगायत मतसे प्रभावित हुये थे, फिर भी वे जैनधर्मके सहायक रहे थे। इनलोगोंके जैन गुरुओंने कारकलके राजाओंको पुनः जैन धर्मका भक्त बनाया था और तब उन्होंने जैनोत्कर्षके कार्य किये, यह पहले लिखा जा चुका है। किन्तु कारकलमें जैन अभ्युदयमें वहांके श्रावकोंका हाथ भी कुछ कम न था। सम्यग्ज्ञान प्रकाश करके वे जैन धर्मकी सच्ची प्रभावना करते रहते थे। सन् १५७९में कारकलके कतिपय श्रावकोंने हिरियनगडिके अम्मनवर-बस्ति नामक जिनमंदिरमें निरन्तर शास्त्रप्रवचनका प्रबंध रहे, इसलिये नकद दान दिया था। ललितकीर्ति भट्टारक प्रबन्धकर्ता नियुक्त हुये जो विचारकर्ता कहलाते थे। सन् १५८६ में इम्मडि भैरवेन्द्र ओडेयर, जो नट्टिपोम्बुच्चपुरके शासक कहलाते थे, उन्होंने "चतुर्मुखबस्ति" नामक जिनमंदिरका निर्माण कराया था। जिन मंदिरोंमें इस समय तक चारों प्रकारकी दानशालायें चलतीं रहतीं थीं, जिनके कारण वे सांस्कृतिक केन्द्र बने हुये थे। कोटर नामक स्थानमें पांड्य नायकने भ० पार्श्वनाथकी मूर्ति साधन चैत्यालयमें स्थापित की थी। भैरवेन्द्रने उनकी पूजाके लिए भी भूमिदान दिया था।[१]

१-मेजै०, पृष्ठ १६१-१६६.

वेणूरु।

विजयनगर साम्राज्यमें यद्यपि वर्णाश्रमी पौराणिक धर्मका बहु प्रचार हुआ था, फिर भी जैनधर्म जीवित रहा, क्योंकि जनतामें उसकी गहरी पैठ हो गई थी। हां इस समय जैन धर्म पर पड़ोसी हिन्दू धर्मका प्रभाव पड़ा और उनमें जाति-पांतिकी उत्पत्ति और कट्टरताका श्रीगणेश हुआ था, यह पहले भी लिखा जाचुका है। ऐसे समयमें भी वेणूरु जैसे नगण्य ग्राममें भी जैन शासकोंका प्राबल्य उल्लेखनीय था। वेणूरुमें सन् १६०४ में तिम्मराजने श्रवणबेलगोलाके श्री चारुकीर्ति पंडितके उपदेशसे गोम्मटेशकी विशालकाय मूर्ति स्थापित की थी। तबसे वेणूरु भी एक प्रमुख केन्द्र और तीर्थ होगया।

बेलूर।

ईस्वी १४ शताब्दिसे १७ वीं शताब्दि तक बेलूर भी जैन धर्मका केन्द्र रहा था, यद्यपि वह हिन्दू धर्मका गढ़ था। वहांपर तीन मन्दिर 'पार्श्वनाथ', 'आदिनाथेश्वर' और शांतिनाथेश्वर बसति नामक बन गये थे। बेलूरमें मूलसंघके देशीयगण इङ्गलेश्वरबलि और समुदायके गुरुओंकी परम्परा स्थापित होगई थी। यह समयका प्रभाव था कि जैन संघ गण—गच्छसे आगे बढ़कर 'बलि'—'समुदाय' में भी विभक्त होगया था। सन् १६३८ में बेलूरके शासक वेङ्कटाद्रि नायकके समयमें लिङ्गायतों और जैनोंमें उपद्रव हुआ तो बेलूरके जैन वणिकोंने उसे जिस खूबीसे निबटाथा इससे उनका प्रभावशाली होना प्रमाणित है। विजयनगर साम्राज्यके अन्तिम कालमें लक्ष्मीसेन भट्टारकने अपनेको दिल्ली, कोल्हापुर, जैन काशी (मूडबिद्री) और पेनुगोण्डका

अधिष्ठाता घोषित किया था। इनके ही शिष्य श्रावक सक्करेसेट्टिने नागमंगलमें सन् १६८० में श्री विमलनाथ चैत्यालयका निर्माण कराया था। पेनुगोण्ड भी जैन केन्द्र था। वहां पार्श्वनाथवस्ती थी, जिसके पास ही जिनभूषण भट्टारकके शिष्य नागय्यकी निषधि थी।[1]

इस प्रकार जैन धर्म विजयनगर साम्राज्यमें अपना प्रभावशाली अस्तित्व बनाये हुये था। अलबत्ता उसके आचार्य पहले जैसे ज्ञानवान और प्रभावशाली नहीं थे, जो शासकोंको जैन धर्मका श्रद्धालु बनाये रखते। फिर भी वे समयके अनुसार बदलते हुये जैन धर्मके प्रचारमें तल्लीन थे और जहां तहां शासकोंको प्रभावित करनेमें सफल होते थे। अब दिगम्बरत्वको भी उतना महत्व प्राप्त न रहा क्योंकि उनका स्थान वस्त्रधारी भट्टारकोंने ले लिया। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि दिगम्बर मुनियोंकी मान्यतामें कोई अन्तर पड़ा था; बल्कि वह पहले ही जैसी पूज्य दृष्टिसे देखे जाते थे। उनमें साधुवेषी उदरपोषक साधुओंका अभाव नहीं था; किन्तु ऐसे साधुवेषियोंकी खुली भर्त्सना की जाती थी—शिलालेखोंमें भी उनका उल्लेख हुआ मिलता है। सारांशतः जैन संघमें इस समय गहरे परिवर्तन हुए थे।

१–मेजै० पृष्ठ ३६३–३६५.

(४)

तत्कालीन जैन साहित्य और कला।

दक्षिण भारतके जैनाचार्य।

जैनधर्म अहिंसा–प्रधान रहा है। अहिंसा माता अपने सरस्वती पुत्रोंको हमेशा करुण और शांत रसमें निमग्न बनाये रही। जैन आचार्यों और विद्वानोंने 'स्वान्तः सुखाय' ही नहीं और नहीं ही मात्र 'सत्यं–शिवं–सुन्दरम्' की उपासनाके लिये साहित्य–सृजन किया, प्रत्युत उनका ध्येय साहित्य रचना द्वारा लोकोपकार करना था–लोकको सम्यग्ज्ञान प्रदान करना था। अपने इस ध्येयकी सिद्धिके लिये दक्षिण भारतके जैन आचार्योंने दक्षिणात्य होते हुये भी कन्नड़, तामिल, तुलु आदि देशी भाषाओंके अतिरिक्त संस्कृत और प्राकृत भाषाओंमें भी रचनायें कीं। संस्कृत साहित्यक जगतकी भाषा थी, तो प्राकृत जैनोंकी निज भाषा थी। यद्यपि विजयनगर साम्राज्यमें भी निरन्तर युद्ध होते रहे, किन्तु उस विषमतामें भी जैनाचार्य एवं अन्य मनीषी सत्यं शिवं-सुन्दरंको नहीं भूले। इसलिये ही हम देखते हैं कि इस कालमें भी साहित्य और कलाके अनूठे नमूने सिरजे गये थे।

कन्नड़ व अन्य भाषायें।

विजननगर साम्राज्यका बहुभाग कन्नड़ भाषी था। अतः जैनोंने उस भाषाको तामिल और मराठी भाषाओंके साथ भुलाया नहीं था। इस समय भी नागरी, तामिल, कन्नड़ और मराठी एवं संस्कृत भाषाओंका बहु प्रचार दक्षिण भारतमें हो रहा था। इस समयकी

नागरी जो 'नागर-भाषा' कहलाती थी, प्राचीन अपभ्रंशका परिवर्तित रूप अर्थात् पुरानी हिन्दी हो सकती है।

संस्कृत भाषा-साहित्य।

होयसल राजाओंके समयसे ही संस्कृत भाषाओंके जैन साहित्यका केन्द्र उत्तर पथकी ओर बढ़ गया था, किंतु विजयनगर सम्राटोंने संस्कृत भाषाको अपनाया था, यद्यपि उनकी मातृभाषा तेलुगू थी। संस्कृत तब भी 'देववाणी' कहलाती थी। तब शास्त्रका यह सुभाषित कि 'शस्त्रेण रक्षितं राष्ट्रे शास्त्रचिंता प्रवर्तते' चरितार्थ हो रहा था। विजयनगरके सम्राटों, सामन्तों और सेनापतियों, जिनमें जैन भी उल्लेखनीय थे, ने अपने बाहुबलसे देशको सुरक्षित बना दिया था और उन शांतिपूर्ण घड़ियोंमें विद्वज्जन साहित्य वृद्धि करनेमें तल्लीन हुये थे। सायणने वेदोंका भाष्य इसी समय लिखा था। संस्कृतके इस उत्कर्षमें हाथ बंटानेके लिये जैन विद्वान् पीछे न रहे। कर्णाटकी होते हुये भी वे संस्कृत भाषाकी रचनाओंमें प्रवृत्त हुये थे। उत्तरापथमें तो श्री सोमप्रभाचार्य, श्री हेमचन्द्राचार्य प्रभृति [illegible] जैन विद्वानोंने संस्कृत साहित्यकी श्रीवृद्धि की थी। श्री सोमप्रभाचार्यने 'शतार्थ-काव्य' रचकर लोगोंको आश्चर्यमें डाल दिया था, जिसके एक ही श्लोकके सौ अर्थ होते थे दक्षिणात्य कवियोंमें श्री वीरनन्दि आचार्य उल्लेखनीय हैं। इनका 'चन्द्रप्रभकाव्य' संस्कृत साहित्यकी अनूठी रचना है। श्री वादिराजका 'एकीभावस्तोत्र' जिनेन्द्र स्तुतिकी बहुप्रचलित रचना है। इनकी अन्य रचनाओंमें तीर्थप्रबंध, रुक्मणीशविजय और सारसमारतविलास भी बताये जाते हैं। 'पार्श्वनाथ चरित्र' के रचयिता

श्री वादिराजसूरि थे, जिनका अपर नाम शन्मुख था और वह 'द्वादशविद्यापति'—बारह विद्याओंके ज्ञाता कहलाते थे। उनकी एक अन्य रचना 'यशोधरचरित्र' भी है।[1] १२वीं शताब्दिमें वादीभसिंह ओडेयदेव कृत 'गद्यचिन्तामणि' और 'क्षात्रचूड़ामणि' नामक चम्पूकाव्य भी संस्कृत साहित्यकी उल्लेखनीय रचनायें हैं। मुनि कल्याणकीर्ति रचित 'जिनयज्ञ फलोदय', 'ज्ञानचन्द्राभ्युदय', 'तत्वभेदाष्टक', 'सिद्धराशि', 'यशोधर चरित्र' आदि ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं। भैरव राजगुरु कारकल मठाधीश श्री ललितकीर्तिजीके वह शिष्य थे। उन्होंने शक सं० १३५० में 'जिनयज्ञ फलोदय' रचा था। 'कामनकथे' 'अनुपेक्षे' आदि कन्नडकृतियां भी उनकी रची हुई हैं।[2] चन्द्रसेन मुनिका 'केवलज्ञानहोरा' ज्योतिष शास्त्रकी उल्लेखनीय रचना है। कारकलके पांड्य-भैरववंशीय राजा पाण्ड्यक्ष्मापति भी संस्कृत भाषाके अच्छे कवि थे। उनका रचा हुआ 'भव्यानन्दशास्त्र उपलब्ध है।[3] भट्टारक चारुकीर्तिजीने 'गीतवीतराग' की रचना करके कवि जयदेवके 'गीत-गोविन्द' महाकाव्यकी समकोटिकी उत्तम रचना जैन संस्कृत साहित्यमें भी सुलभ करदी है। भट्टारकजी संगीत शास्त्रके ज्ञाता थे, इसलिये उनकी यह रचना संगीत लय और तालको ठीकसे निभाती है। भ० चारुकीर्तिका जन्मस्थान द्राविडदेशान्तर्गत सिंहपुर

१-CSL, p. 286 & 295. डॉ० कृष्णमचारियरने 'रुक्मणीशविजयके कर्ता और एकीभावस्तोत्र' के रचयिता वादिराजको एक ही माना है; परन्तु वे भिन्न भासते हैं। इसकी खोज करना चाहिए।
२-प्रसं०, पृ० १८. ३-प्रसं०, पृ० ३४-३८।

था। उनकी रायराजगुरु, भूमंडलाचार्य, महावादवादीश्वर उपाधियाँ उनकी विद्वत्ता और महत्ताको स्पष्ट करती हैं। वह श्रवणबेलगोलाके मठाधीश थे। इन्होंने अपनी यह रचना गंगवंशके राजकुमार देवराजके अनुरोधसे शक संवत् १३२१ के पश्चात् रची थी, 'प्रमेयरत्नमालालङ्कार' 'पार्श्वाभ्युदयटीका' आदि कई टीका ग्रंथ भी उन्होंने रचे थे।[१] कविवर विजयवर्णीका 'शृंगारार्णव चंद्रिका' नामक अलंकार शास्त्र भी इस समयकी उल्लेखनीय रचना है। इसको उन्होंने सन् १२६४ के लगभग कामराय बंग नरेशकी प्रार्थनापर रचा था।[२] इस प्रकार अनेक अन्य जैन विद्वानोंने संस्कृत साहित्यको अपनी सत्कृतियोंसे समलंकृत किया था जिनका इतिहास लिखा जाना वांछनीय है।

कन्नड़-साहित्य और जैन कविगण।

विजयनगर सम्राटोंके शासन कालमें भी कन्नड़ साहित्यको समुन्नत बनानेमें जैन कवियोंने उल्लेखनीय भाग लिया था। जैनधर्म और कथा साहित्यके अतिरिक्त उन्होंने सर्वसाधारणोपयोगी साहित्यकी भी रचना की थी। किंतु विजयनगर साम्राज्योंमें स्मार्त और पौराणिक हिन्दू धर्मका प्राबल्य होनेके कारण जैन कविगण उससे अछूते नहीं रहे थे। जो बातें जैनधर्मके अन्दर नहीं मिलतीं थीं उनको भी इस समय वैसे ही अपनाया गया, जैसे कि आजकल कुछ अज्ञ जैनकवि कर्तृत्ववादकी गंध अपनी रचनाओंमें कूटकर भर देते हैं। यह समयका प्रभाव है। विचक्षण ही अपनेको इस प्रभावसे सुरक्षित रख पाते हैं। केशिराज (सन १२३७) स्वयं जैन थे। उनके पुत्र मल्लिकार्जुन

१-वही, पृ० ६१-७२. २-वही, पृ० ७८.

भी जैन थे। मल्लिकार्जुनने 'सूक्तिसुधार्णव' नामक कनड़ ग्रंथ सार्वभावसे लिखा। उसके आदि मंगलाचरणमें जिनेन्द्रदेवको नमस्कार किया, परन्तु भीतर सूक्तियोंमें निरा स्मार्त-ब्राह्मण-धर्म भर दिया। आज विद्वान् यह देखकर आश्चर्यचकित हैं![1] मल्लिकार्जुनका पुत्र केशिराज द्वि० (१२६० ई०) भी कवि था। उसके रचे हुये चोलपालकचरित, सुभद्राहरण, प्रबोधचंद्र, किरात और शब्दमणिदर्पण थे, परन्तु उपलब्ध केवल अंतिम ग्रंथ है। यह कनड़ व्याकरणका अद्वितीय ग्रंथ है।[2] कवि बूचिराज (११७३ ई०) महाकवि पोन्नके समान मार्मिक श्रेष्ठकवि थे, परंतु उनकी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है। कवि बोप्पण पंडित 'सुजनोत्तंस' प्रतिष्ठा प्राप्त प्रसिद्ध कवि थे। कवि अग्गल (११८९ ई०) कविकुल कलभव्रातयूथाधिनाथ, काव्यकर्णधार, भारती बालनेत्र, साहित्यविद्याविनोद, जिनसमयसारसार-केलि-मराल आदि बिरदोंसे सुशोभित थे। वह किसी राजदरबारमें उच्चकोटिके कवि थे। उनका रचा हुआ 'चन्द्रप्रभपुराण' मिलता है। 'पार्श्वपंडित' (१२०५ ई०) सौंदत्तिके रट्टराजा कार्तवीर्य चतुर्थका सभाकवि था। पार्श्वपंडित कविकुलतिलक कहलाते थे। इनका 'पार्श्वनाथ पुराण' अद्वितीय गद्यपद्यमय ग्रंथ है। कवि जन्न भी अपने समयके प्रसिद्ध कवि थे और मल्लिकार्जुनके साले थे। चोलकुलके राजा नरसिंहदेवके वह सभाकवि, सेनानायक और मंत्री भी थे। वह एक बड़े धर्मात्मा

१-मेआरि० १९३१, पृ० ८०. २-कजैक०, पृ० २९.

"Jewel-Mirror of Grammar" remains to this day the standard early authority on the Kannada language. —Prof. S. R. Sharma.

भी थे। उन्होंने किलेकल दुर्गमें भ० अनन्तनाथका मंदिर और द्वार-समुद्रके विजयी पार्श्वनाथके मंदिरका महाद्वार बनवाया था। यशोधर-चरित, अनन्तनाथ पुराण और शिवायस्मरतन्त्र नामके तीन ग्रन्थ उसके रचे हुए मिलते हैं। अट्टकवि अथवा अर्हद्दास सन् १३०० के लगभग हुए थे। यह जैन ब्राह्मण थे और अपने नामके साथ जिन-गणपति, गिरिनगराधीश्वर आदि विरद लिखता था। अतः वह किसी नगरका राजा प्रगट होता है। इसका रचा हुआ "कट्टुमत" नामक ज्योतिष ग्रन्थ सर्वोपयोगी है।

मंगराजका 'खगेन्द्र मणिदर्पण' भी सर्वोपयोगी रचना सम्राट हरिहररायके समयकी है। यह कवि 'सुललितकवि पिकवसन्त' 'विधुवंशललाम' आदि विरदोंसे समलंकृत था।[1] राजकवि साल्वने साल्व भारत सन् १५१० में रचकर कृष्ण और पाण्डवचरित्रका व्याख्यान किया था। यह साल्वमल्ल नरेशका सभाकवि था। साल्वकृत 'कर्णाटक-संजीवन' नामक कोष भी मिलता है, जिसमें 'र' व 'ल' से आरम्भ होनेवाले शब्दोंका संग्रह है। मूडबिद्रीके क्षत्रिय रत्नाकर वर्णीने सन् १५५७ में 'भरतेश्वर चरित', 'अपराजित शतक' और 'त्रिलोक शतक' नामक ग्रंथ रचे थे। इस समयके प्रसिद्ध जैनवादी अभिनववादी—विद्यानन्दिका रचा हुआ (सन् १५३३) 'काव्यसार' भी उल्लेखनीय रचना है। दक्षिणके प्रसिद्ध अभिनव वैयाकरणोंमें भट्टाकलङ्कदेवकी गणना की जाती है। उन्होंने 'कर्णाटक शब्दानु-शासन' रचकर कनड़ साहित्यकी श्रीवृद्धि की थी। संस्कृत भाषामें

१—कर्णाटक०, पृष्ठ २३–२३.

भी उन्होंने ग्रंथ रचना की थी। सन् १६०४ में उन्होंने यह ग्रंथ रचा था।[1] इस प्रकार कन्नड़ साहित्य प्रांगणको अनेक जैन कवियोंने सुशोभित किया था।

जैनकला—विजयनगर साम्राज्य-कालमें साहित्यके साथ कलाकी भी प्रचुर वृद्धि हुई थी। कलाकी श्री वृद्धिमें भी जैनोंका सहयोग अपूर्व था। कलाका प्रधानकार्य मानव हृदयमें स्फूर्ति और उल्लासको जागृत करना है। कलाकृति उसे आत्मविभोर बनादे, यही कलाकी विशेषता है। जैनकला इन बातोंमें सर्वोपरि रही है। वह 'सत्यं-शिवं-सुन्दरं'का मूर्तिमान रूप है। इस समयकी निर्मित विशालकाय गोम्मटेश्वरकी भव्य मूर्तियां, जो वेणूर और कारकलमें हैं, इसकी साक्षी हैं। सत्य और शिव (निर्वाण) उनमें गुथा हुआ है और उनका सौन्दर्य निहारते रहनेकी वस्तु है।

हम्पी (विजयनगर) के जैन मंदिरोंके विषयमें भी यही कथन चरितार्थ होता है। वह स्थान अतीव रमणीक है। उसपर कला-कारकी पैनीछैनी और मैमारकी बल्ली वसूलाने वहां नयनाभिराम मंदिर बनाये थे। विजयनगरकी मध्ययुग-कलाके वे अनूठे नमूने थे। द्राविड़ शैलीको अपनाकर विजयनगरके शिल्पियोंने एक निराली ही विजय-नगर शैलीको जन्म दिया था। उनके मंदिर और मूर्तियां कलाके दर्शनीय नमूने हैं। उनका तक्षण कार्य और अलंकरण देखनेकी वस्तुयें हैं। जैनोंने सारे देशको ही अपनी कलासे अलंकृत कर दिया था। आज उनके बचे हुये अवशेष इस कथनको स्वयं सिद्ध कर

1–Jainism and Karnataka Culture pp 96–100.

रहे हैं। यहां हम पाठकोंके परिज्ञानार्थ उन स्थानोंके जैन अवशेषोंका परिचय कराते हैं, जो कलाकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण हैं:—

(१) विजयनगर या हम्पीके ध्वंशावशेष ९ वर्गमीलमें फैले हुये हैं, जो उसके गत-वैभवकी साक्षी देरहे हैं। श्री पं० के० भुजबलि शास्त्रीने उनको देखकर लिखा है कि "एक साधारण विचारशीलदर्शक भी इन ध्वंशावशेषोंको देखकर इसके गत वैभवको आसानीसे परख लेगा। हम्पीके प्राचीन स्मारकोंमें यहांके जैन मंदिर ही सर्व प्राचीन हैं। जहां पर ये मंदिर हैं, वह स्थान इतना सुंदर है कि इसे नगरकी नाक कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। घन्टों बैठनेपर भी यहांसे हटनेकी इच्छा ही नहीं होती। हम्पिके शिलामय यह भव्य मन्दिर उन्नत एवं विशाल एक चट्टानके ऊपर एक ही पंक्तिमें सुदर ढंगसे निर्मित हैं।"[1] इनमेंसे कुछ जैन मंदिर विजयनगरसे भी प्राचीन हैं; परन्तु कई मंदिर विजयनगरके शासनकालके हैं और दर्शनीय हैं। एक मंदिर तो सम्राट् देवराय द्वितीयने ही विजयनगरके पान सुपारी बाजारमें बनवाया था। यह मंदिर मणियोंसे अलंकृत नयनाभिराम था।

कम्पलिको जानेवाली सड़कपर 'गणिगत्तिबस्ति' नामक मंदिर अपनी विशालताके लिये प्रसिद्ध था। इसे जैन सेनापति इरुगप्पने सन् १३८५ में बनवाया था और किसी धर्मात्मा तेलिनने इसका जीर्णोद्धार कराया था। इस मंदिरके आगेका दीपस्थंभ दर्शनीय था। पद्मावती मंदिरके नीचे उत्तरमें जैन मंदिरोंका सबसे बड़ा समूह है। उनके शिखिर देखने योग्य हैं और तक्षण कार्य अपूर्व है।[2] निःसंदेह

१–जैसि० भा० १०, पृ० ७–८. २–मबैप्राजैस्मा०, पृ० ४२–४४.

विजयनगर सम्राटोंकी छत्रछायामें जैनधर्मका अभ्युदय विशेष हुआ था। उनमें कई सम्राटोंने जैन मंदिरोंको दान दिये थे, यह पहले लिखा जा चुका है। बुक्काराय द्वि०ने मूडबिद्रेके मंदिरको, देवराय द्वि०ने बारकूर, मंगलूर आदिके जैन मंदिरोंको और कृष्णदेवरायने चिक्कलपेट जिलाके त्रैलोक्यनाथ जिनालयको दान दिये थे।[1] इनका अनुकरण जैन प्रजाने किया था। परिणामतः सारे देशमें कलाका अद्भुत प्रदर्शन हुआ था।

(२) मूड़बिदुरे (मूड़बद्री) दक्षिण कनड़ जिलेका प्रमुख केन्द्र था। उसे लोग 'जैन काशी' कहते थे। वहां विजयनगर राजाओंके समयके बने हुये अनेक जिन मंदिर हैं। उनकी बनावट हिमालय प्रदेशके देवस्थानों जैसी ढलवां (Sloping roofs of flat overlapping slabs) छतदार है, जिनमें पाषाणके झरोखे और स्तंभ होते हैं। यह इस ओरके जैन मंदिरोंकी खास बनावट है, जिसका प्रभाव हिन्दुओंके मंदिरों और मुसलमानोंकी मस्जिदोंपर भी पड़ा है।[2] मुसलमानोंने तो जैन मंदिरोंको ध्वंश करके उनको मस्जिदोंमें परिवर्तित कर दिया तभीसे यह जैनशैली उनकी मस्जिदोंमें मिलती है। मंदिरोंकी भांति जैनोंके स्थंभ भी थे। मूड़बिदुरेमें

१–जैनीज्म एड कर्णाटक कलचर, पृ० ४५–४६.

२–"The Jains seem to have left behind them one of their peculiar styles of temple architecture; for the Hindu temples and even the Muhammedan mosques of Malabar are all built in the style peculiar to the Jains, as it is still to be seen in the Jain bastis at Mudbidre & other places in the south kanara district. Logan, Malabar, pp. 186-188.

उनकी भी बहुलता है। वहांपर एक स्थंभ ५२½ फीट ऊंचा है, जो कलाका अद्भुत नमूना है। निस्सन्देह जैनोंके यह स्थंभ भारतीय किंवा समस्त पूर्वीयकलामें निराले हैं।[1] यह स्थंभ मंदिरोंके सम्मुख तो बने ही होते हैं और 'मानस्थंभ' कहलाते हैं, परन्तु जैनोंने मंदिरोंके भीतर भी आवश्यकतासे अधिक स्थंभ बनानेकी निराली प्रथाको अपनाया था। मूडबिदुरीमें ही 'सहस्रकूट जिनालय' में लगभग एक हजार स्थंभ होंगे और वे ऐसे बने हुये हैं कि एक स्थंभ दूसरेसे बिल्कुल निराला और सुन्दर है। उन परका तक्षण कार्य भी अनूठा है, जिसकी समानता आयर्लेंड और अमरीकाकी कलामें मिलती है।[2] मूडबद्रीको वेणुपुर भी कहते थे। सम्राट् देवरायकी आज्ञासे यहां सन् १४३० में त्रिभुवन-चूडामणि-चैत्यालय बनवाया गया था, जिसमें मूडबद्रीकी जैन प्रजाने भ० चन्द्रप्रभ तीर्थंश्वरकी मनमोहन मूर्तिकी स्थापना की थी। यह मूर्ति अपने परिकर सहित चमकती

1-" Another peculiar contribution of the Jainas, not only to Karnataka but also to the whole of Indian or even Eastern art, is the free-standing pillar, found in front of almost every basti or Jaina temple in Karnatak.

—Prof. S. R. Sharma, TKC., p. 109.

" In the whole range of Indian art, there is nothing, perhaps, equal to these Kanara pillars for good taste. A particularly elegant example, 52 1/2 ft. in height, faces a Jaina temple at Mudbidre. The material is granite, and the design is of singular grace."

-Sir Vincient Smith (History of Fine Art in India, p. 22.

2-Jainism & Karnataka Culture, p. 116.

हुई पीतलकी विशाल काय भव्य प्रतिबिम्ब है। सन् १४४२ ई० में अब्दुररज्जाक नामक राजदूत ईरानसे भारत आया था। उसने इस मूर्ति और मंदिरको देखकर लिखा था कि उसके समान लोकमें दूसरी वस्तु नहीं है। मंदिर चार खनका है। उस सबको वह पीतलका बताता है और विशालकाय प्रतिमाको निरी सोनेकी लिखता है, जिसकी आंखोंमें दो लाल जड़े हुये थे। वह लिखता है कि मूर्ति इस उत्तमतासे बनाई गई है कि वह सर्वथा सुडौल और कलामय है, मानो आपकी ओर ही निहार रही है।[1] ज्ञात होता है कि उस समय मंदिर हाल ही बनकर तैयार हुआ था और उसपर सुनहरी रंगकी झिल होरही थी। इसलिये ही अब्दुर रज्जाकको उसके पीतलका होनेका भ्रम होगया और मूर्तिको उसने सोनेकी लिख दी। आज भी जैन मंदिरोंमें पीतलकी मूर्तियोंपर सोनेकी लुक फिरी हुई देखकर बहुतसे लोग उनको सोनेकी मान बैठते थे। सारांशत: उस समय मूडबद्रीमें एकसे एक बढ़ कर कलामय जैन मंदिर और स्थंभ बने हुये थे। वहांके जैन राजाओंके राज महल भी दर्शनीय थे।

(३) श्रृंगेरि जैन केन्द्र होनेके साथ ही कलामय जैन

1-" At a distance of three pansangs from Mangalor, he (Abd-er-Razzak) saw a temple of idols, which has not its equal in the universe......It is entriely formed of cast bronze. It has four estrades. Upon that in the front stands a human figure, of great size made of gold; its eyes are formed of two rubies, placed so artistically that the statue seems to look at you. The whole is worked with wonderful delicacy and perfection." —Major, India in the 15th. Century p. 20.

मंदिरोंको भी लिये हुये था। इस नगरके हृदयमें ही 'पार्श्वनाथ बस्ति' नामक सुन्दर मंदिर था, जिसके गर्भगृह, सुखनासि, प्रदक्षिणा, आठ पहलू और चौकोर स्थंभों सहित नवरंग और मुख मंडप दर्शनीय थे। यह सन् १४००से पूर्वकी कृति थी। गर्भगृहमें एक फुट ऊंची कृष्ण पाषाणकी जिनमूर्ति विराजमान है। नवरंगमें तीर्थङ्कर पार्श्वकी तीन मूर्तियां हैं। ऊपरी भागमें भी जिनमूर्ति है। नीचेके भागमें एक मुनि-यति महाराजकी आकृति बनी हुई है, जो एक रानीको धर्मशास्त्र पढ़ा रहे हैं। रानीपर उसकी परिचारिका चंवर ढाल रही है। यह कलामय रचना है। यह मंदिर निडुगोड निवासी विजयनारायण शांतिसेट्टिके वंशज मारिसेट्टिकी स्मृतिमें बनाया गया था।[1]

(४) अङ्गदिमें कई जिनमंदिर दर्शनीय हैं, जिनमें नेमिनाथ बस्तीका तोरण एक सुन्दर कलाकृति है, वो बस्तिहल्लीके आदिनाथ मंदिरके तोरणके समान है। यहां दिक्पाल और यक्ष-यक्षियोंकी मूर्तियां भी कलामय बनी हुई है।[2]

(५) मेलिगे नामक छोटेसे ग्राममें जो तीर्थहल्लीसे छै मील दूर दक्षिण पूर्वमें है, अनंतनाथबस्ती नामक जिनमंदिर दर्शनीय है। यह मंदिर सन् १६०८ में पुनः बनाया गया था। मानस्थंभ बहुत ही सुन्दर कलामय कृति है। इसके ऊपर बनी हुई शिखिर नयनाभिराम मैसूर स्टेटमें इसके जोड़का दूसरा कोई भी प्राचीन स्थंभ नहीं है। वह

1-ASM, 1931, p. 15.

2-Ibid, 1929, p 8.

मंदिर बोम्मनसेट्टिने बनवाया था, जिनकी मूर्ति भी बनी हुई है।[३]

(६) हुम्बुचा अथवा विजयनाथपुर भी दक्षिणभारतमें प्रमुख जैन केन्द्र था। इसे जिनदत्तरायने बसाया था। यहांकी पार्श्वनाथ बस्ती और पद्मावती बस्ती नामक प्राचीन मंदिर पुनः १६ वीं शताब्दीमें ग्रेनाइट (Granite) पाषाणके केलादि-शैलीके बने हुये सुन्दर हैं। 'पंचकूटबस्ती' मंदिर इनसे प्राचीन द्राविड़ शैलीका है, जिसको सन् १०७७ में चत्तलदेवीने बनवाया था। उसका नामकरण 'उर्वी तिलक' अर्थात् पृथ्वीका गौरव (Glory of the world) उसकी महानता स्वयं प्रगट करता है। किंतु इस समय इस मंदिरका सुन्दर मानस्थंभ, तोरणद्वार, विशालकाय द्वारपाल और कतिपय जिनेन्द्र मूर्तियां ही शेष हैं। इस मंदिरका पुनः जीर्णोद्धार हो चुका है। पर्वतपर भी जैन कलाकी वस्तुयें हैं।[२]

(७) कम्बदहल्लीकी पंचकूटबस्ती एवं अन्य जैन मंदिर भी उल्लेखनीय हैं। यहांका मानस्थंभ बहुत ही सुन्दर कलामय है। यह पश्चिमको झुका है और गांवका नाम भी इस स्थंभकी अपेक्षा कम्बदहल्ली पड़ा है। (The pillar is one of the elegant in the state and has given the village its name. ASM.,—1939, p. 10)

शांतिनाथ बस्तीका तक्षण कार्य होय्सल कलाका अद्वितीय

3-Ibid, 1936. pp. 38-39. "The finest architectural piece in the temple is the Manasthambha in front...best old pillar in the Mysore state."

1-ASM. 1929, पृ० ६ व ११२४, पृ० १७७-१७८.

नमूना है । उसमें अंकित पशुओंकी आकृतियां बड़ी ही सजीव और सुन्दर हैं । पूर्वीय बस्तीकी छत अनूठी कलामय है ।[1]

(८) गुडिबंदे Gudibande (Kolar District) भी जैनोंका एक समृद्धिशाली केन्द्र था । वहांका 'चंद्रनाथबस्ती' नामक जिन मंदिर आज भी प्रसिद्ध है । वहांके दो मंदिर और पद्मबेट्ट नामक पर्वत, जहां जैनमुनि तपस्या करते थे, उल्लेखनीय हैं । चंद्रनाथ-चिक्क-बस्ती मंदिर विजयनगर-शासन-कालकी कृति है । इस मंदिरके नवरंगके स्थंभों और मुखमंडप विजयनगर शैलीकी शिल्पकलाके नमूने हैं । स्थंभों पर गौ, सर्प मोर, अर्द्धचन्द्र एवं अन्य देवी-देवताओंकी सुंदर आकृतियां अङ्कित हैं । नवरंगकी छतमें मध्यवर्ती पद्म सुंदर बना हुआ है । दोड्डबस्तीमें भी कलामय तक्षण कार्य दर्शनीय है ।[2]

मंदिर-मूर्तियोंके अतिरिक्त जैनोंने इस समयमें भी अपने वीरोंकी स्मृति वीरगल् और निषधिकल् बनाकर सुरक्षित रक्खी थी । सेनापति बैचप्पका वीरगल् एक युद्ध वीरका स्मारक है, तो दूसरी ओर नन्दि भट्टारककी शिष्या आर्यिकाका निषधिकल् एक धर्मवीर महिलाकी स्मृतिको सुरक्षित रक्खे हुये है ।[3]

इस प्रकार संक्षेपमें विजयनगर कालके जैन साहित्य कलाका दिग्दर्शन कराया गया है ।

1-Ibid., 1939, pp. 44-49. 2-ASM. 1941 pp. 36-37. 3-Ibid, 1938, पृ० १७१.

जैनधर्मके पतनके कारण।

दक्षिण भारतके निर्माणमें जैनोंका हाथ ईस्वी १२ वीं शताब्दि तक सर्वोपरि था। देशका शासन, वाणिज्य, सामाजिक नेतृत्व और साहित्य एवं कला जैनोंके ही आधीन होरहे थे। किन्तु होयसल नरेश विष्णुवर्द्धनके वैष्णव हो जानेके पश्चात् जैनोंकी इस श्री वृद्धिको काठ मार गया। उनकी आचार्य परम्परा विक्षुण्ण होगई जिसके कारण उनको राजाश्रयसे हाथ धोने पड़े। राजदरबारोंमें 'जैनं जयतु शासनं' सूत्रको जाज्वल्यमान बनानेवाले आचार्य अब दिखाई ही नहीं पड़ते थे। राजनीति संचालन और देशके भाग्य निर्माणमें अब वे पूर्ववत् नेतृत्व करनेके लिये क्षीणशक्ति होगये थे। 'राष्ट्रीय प्रगतिमें स्वस्थ्य भाग लिये बिना कोई भी संस्था या संघ आगे नहीं बढ़कर शक्तिशाली नहीं हो सकता', इस मंत्रको विजयनगर कालके जैन भूले नहीं थे, परन्तु वे आन्तरिक प्रपंचों एवं बाह्य आक्रमणोंके कारण ऐसे जर्जरित होगये थे कि कुछ भी नहीं कर सकते थे। विजयनगर शासनकालमें भी जैनोंमें यद्यपि वादी विद्यानन्द उत्पन्न हुये और उन्होंने 'जैनं जयतु शासनं' सूत्रको चमत्कृत करनेके लिये कुछ उठा न रक्खा, परन्तु पाठक जानते हैं कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता। फिर भी उनके सद्प्रयत्नोंसे जैनधर्म कहीं२ और कभी२ राजाश्रय पानेमें सफल हुआ और जनतामें उसकी मान्यता विलुप्त नहीं हुई।

जैनोंके इस पतनके कारण अन्तरङ्गमें उनका परस्पर असंगठित होजाना था। क्योंकि उनमें दिगम्बर आचार्य-परम्पराका अभाव हो

आनेके कारण एवं मध्यकालमें जैन मंदिरोंमें बहु सम्पत्ति संचित हो जानेके कारण कलह हराम हो गई थी। उधर वर्णाश्रमी हिंदूधर्मकी प्रधानताका प्रभाव भी उनपर पड़ा। मध्यकालमें बहुतसे ब्राह्मण और अन्य हिन्दू जैनधर्ममें दीक्षित कर लिये गये थे-जैन हो जानेपर भी वे अपने वैदिक संस्कारोंको भुला न सके। जैनोंमें भी जाति-मद पोषक ऊंच नीचपनका भाव लोगोंमें घर कर गया। यहांतक कि जैन ब्राह्मण अपनेको सर्वश्रेष्ठ मानते और जिनेन्द्रके अभिषेक और पूजाका अधिकार उन्होंने अपने आधीन कर लिया। ब्राह्मण पुरोहितोंकी तरह ही जैन उपाध्याय पुरोहित ईका दम भरने लगे। उधर दिगम्बर जैनाचार्योंका स्थान भट्टारकोंने ले लिया। उनमें भी ऊंच-नीचका दुर्भाव जागृत होगया। वह संभवतः भिन्न२ जातियोंके गुरु होनेका कारण था। यह ऊंच नीचका दुर्भाव मध्ययुगमें कुरम्ब, यवन, पंचम, चतुर्थ, बंट आदि जातियोंके लोगोंको जैनधर्ममें दीक्षित कर लेनेके कारण अस्तित्वमें आया था। उदाहरणतः बंट, पंचम आदि लोग हिंदुओंमें आज भी शूद्र माने जाते हैं किंतु जैनोंमें उनका सामाजिक पद उच्च है। जन्मजात जैन अपनेको इनसे श्रेष्ठ मानते थे अतः इनके गुरु भट्टारक भी बंट जातिके गुरुओंसे अपनेको श्रेष्ठ मानते थे।

इन भट्टारक-गुरुओंने अपने २ क्षेत्रमें मनमाना शासनचक्र चला रक्खा था। अनूठे रीति रिवाज चालू कर रक्खे थे जिनके कारण जैन न केवल छिन्न भिन्न ही हुये बल्कि जैनधर्मके मूल स्वरूपको भी विकृत कर बैठे। अपने पड़ोसी हिन्दुओंकी तरह ही वे भी धर्म-संचयके लिये इन भट्टारकों और उपाध्यायोंकी मान्यतामें लग गये

और अपने २ मंदिर भी अलग २ बना बैठे। यहां तक कि श्रावक होते हुये भी एक दूसरेके यहां भोजन नहीं करते थे। वे अनेक छोटी छोटी उपजातियोंमें बंट गये। उनके अपने न्यारे न्यारे गुरु थे। ऐसे गुरु जो अपनेको दूसरेसे बड़ा मानते थे, अन्तरंगकी इस दुरवस्थाने उनको संघ भावनासे विमुख कर दिया और आगे चलकर जैन संघका अभाव हो गया, उधर जैनोंपर बाहरसे भी आक्रमण हुये। जैनोंकी अंतरंग कलहने उनकी विद्या और कलाको भी हीन बना दिया—उधर वैष्णावों और शैवोंको अवसर मिला। उनमें रामानुज, माधवाचार्य सदृश प्रभावशाली गुरु हुये जिन्होंने जैनोंके विरुद्ध आन्दोलन मचा दिया। अनेक जैन कोल्हूमें पेल दिये गये। आज भी दक्षिणके हिन्दुओंमें एक त्यौहार इस घटनाको जीवित बनाये रखनेके लिये मनाया जाता है। अनेक जैन, वैष्णव और लिंगायत होगये एवं कई जैन मंदिर शैव मंदिर अथवा मस्जिद बना लिये गये। इस विषम स्थितिमें स्वपनेको जीवित रखनेके लिये जैनोंने अपने पड़ोसी वैष्णवादि हिन्दुओंकी रीति नीतिको अपना लिया। जहां पहले जैनधर्मका प्रभाव वैष्णवों पर पड़ा था, वहां अब वर्णाश्रमी हिन्दू धर्मने जैनोंको अपने रंगमें रंग लिया। इतिहास अपनेको दुहराता जो है। जैन अपनेको जागृत और शक्तिशाली बनाये रखनेमें ऐसे ही कारणोंसे असफल हुये थे। इतिशम्।

अलीगंज (एटा),
वीरनिर्वाण दिवस,
ता. २१-१०-१९४९.

—कामताप्रसाद जैन।